Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 10 अंक 2 जुलाई 1996

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 10 अंक 2 जुलाई 1996

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादक-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद – 211002
2. दयाकृष्ण, बी–189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगरू जयपुर – 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, एफ 3/2, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल – 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली – 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर – 302015
2. डॉ. मुकुन्द लाठ, ए. 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर – 302006

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, विश्वविद्यालय के सामने, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर में टंकित तथा रूपा प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1.	धर्म का धर्म	सिद्धेश्वरप्रसाद	93
2.	ऋत, प्राकृतिक नियम और मानवीय अनियम	यशदेव शल्य	105
3.	धर्म-संकट	मुकुंद लाठ	113
4.	निवृत्ति और परमपुरुषार्थ	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	139
5.	उन्मीलन-गोष्ठी		152
	वरण की प्रामाणिकता का प्रश्न	यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ, राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	
6.	न्यायमंजरी, अनुवाद	सिद्धेश्वर भट्ट, शशिप्रभा कुमार	165
7.	पुस्तक समीक्षा	यशदेव शल्य	189

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म का धर्म

सिद्धेश्वर प्रसाद
राज्यपाल त्रिपुरा, अगरतला

भारत को धर्म-प्राण देश कहा जाता है। यहाँ धर्म से तात्पर्य मत, सम्प्रदाय, मज़हब या रिलिजियन से नहीं बल्कि उस तत्त्व या शक्ति से है जो सब कुछ को धारण करता है (धारयते इति आहुः धर्मः)। सबको धर्म धारण करता है परन्तु धर्म को कौन धारण करता है? धर्म का धर्म क्या है? यह प्रश्न जितना असंगत प्रतीत होता है वस्तुतः उतना है नहीं। धर्म को धारण करता है ऋत अर्थात् ब्रह्माण्डीय नियम। साधारण भाषा में ऋत उस ईश्वरीय नियम का पर्याय माना जा सकता है जिसका उल्लंघन असंभव है। पर ऋत वस्तुतः आम धारणा के ईश्वरीय नियम से भी ऊपर है, क्योंकि अवतरित होकर ईश्वर को भी लीला करनी पड़ती है, अर्थात् मनुष्य के जैसा ही आचरण करना पड़ता है, नहीं तो आद्या शक्ति सती को आत्मदाह क्यों करना पड़ता? राम की सीता का अपहरण क्यों हो जाता? कृष्ण के प्रथम पुत्र प्रद्युम्न को प्रसूति-गृह से शवर कैसे चुरा लेता? और दूसरी तरफ रावण, वालि, कंस, दुर्योधन जैसे परम शक्तिशाली व्यक्तियों का वध कैसे सम्भव होता? इन सबके मूल में ऋत का वह ब्रह्माण्डीय नियम है जो धर्म को भी अनुशासित करता है। (इसीलिए धर्म की गति को 'गहन' कहा गया है।) ऋग्वेद (19.73.6) में विस्पष्ट शब्दों में कहा गया है—'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः'। अर्थात् दुष्कर्म करने वाले ऋत के पंथ के पार नहीं जा सकते। 'दुष्कृत' शब्द ऋग्वेद से होता हुआ गीता में आ पहुँचा है—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'(4.8)। गीता के दो श्लोकों (4.7-8) से तो ऐसा प्रतीत होता है कि अवतार का कारण भी ऋत का प्रतिपालन ही है, 'धर्म' का वस्तुतः यहां इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। तुलसीदास ने 'धर्म की हानि' का प्रयोग 'ऋत' के उल्लंघन के अर्थ में ही किया है क्योंकि इसके बाद उन्होंने 'राखहिं निज श्रुति सेतु' को 'राम जन्म कर हेतु' (बालकांड, 120-121) कहकर किसी प्रकार के भ्रम के लिए कोई स्थान नहीं रहने दिया है। विधि-विधान भी वस्तुतः 'ऋत' ही है जिसके सम्बन्ध में तुलसीदास ने कहा है—'रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु विधि बचन कीन्ह चह साचा।' (बालकांड, 48.1) शिव के आराध्य श्रीराम से भी परे विधिवचन क्यों हैं? क्या त्रिदेवों में ऋत के पालन का दायित्व विधि के ऊपर ही था?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गीता का अन्तिम श्लोक (18.78) है कि जहां योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ होते हैं वहीं श्री, विजय, भूति और नीति होती है। पर योगेश्वर कृष्ण से पृथक् पार्थ की कोई शक्ति है क्या? परम्परा से यह उक्ति चली आ रही है—

मनुज बली नहीं होत है, समय होत बलवान।
भिल्लनि लूटी गोपिका, वहि अर्जुन वहि बान॥

यहां ऐसा लग सकता है कि अनृत की विजय और ऋत की पराजय हो गयी। पर यह दोहा 'समय' के रूप में ऋत की शक्ति का ही उद्घोष करता है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि "सत्य की ही जय होती है, अनृत की नहीं। सत्य के मार्ग पर चल कर ही ऋषि सत्य-लोक को प्राप्त करते हैं।" (3.1.6) स्पष्ट है कि यहां सत्य का प्रयोग ऋत के अर्थ में किया गया है और अनृत का असत्य के अर्थ में। इसके आगे के मंत्र में सत्य के जिस बृहत्, दिव्य और अचिंत्य रूप को व्यक्त किया गया है उसे न नेत्र से, न वाणी से, न तप से और न कर्म से ही ग्रहण किया जा सकता है। उसे तर्क से भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। (नैषा तर्केण मतिरापनेया, **कठोपनिषद्,** 1.2.9)

ऋषियों ने उसे कैसे प्राप्त किया? **श्वेताश्वतरोपनिषद्** (1.1.3) में कहा गया है—'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्' अर्थात् उन्होंने 'ध्यानयोगानुगत होकर सृष्टि के रहस्य का साक्षात्कार किया। इसके आगे के मंत्रों में सृष्टि के व्यक्त स्वरूप का विवरण देकर उसे 'ब्रह्मचक्र' कहा गया है। यह ब्रह्मचक्र ऋत का ही अनुगमन करता है। लोक में ऋत का पान वही करता है जो 'सुकृत' है। (क्योंकि 'दुष्कृत' के लिए ऋत में कोई स्थान नहीं है।)

वेद के संहिता भाग के संदर्भ में वैसे सत्य और ऋत को समानार्थक मान लिया जाता है पर वस्तुतः सत् के अस्तित्व का भाव-बोध है सत्य और ब्रह्मांडीय नियम का भाव-बोध है ऋत। सत्य तथ्य के रूप में स्थिति का बोधक हो जब अहम् से युक्त हो जाता है तब मत-भेद का कारण बन विवादास्पद भी हो जाता है और ऋत जब अहम् से युक्त हो नियमबद्ध रूढ़ि का पर्याय हो जाता है तब ब्रह्माण्डीय नियम से दूर पड़ समाज की जड़ता का कारण बन जाता है। पर सत्य और ऋत के द्रष्टा ऋषि की दृष्टि तो इन सबके परे वहां भी जाती है जिसे 'न असत् आसीत् न सत् आसीत्' (ऋग्वेद, 10.129.1) के रूप में व्यक्त करते हुए अन्त में कहा जाता है कि 'यह सृष्टि जिससे पैदा हुई वह इसे धारण करता भी है या नहीं, इसको वही जानता है जो परम आकाश में रहता हुआ इस सृष्टि का अध्यक्ष है। अथवा, संभवतः वह भी नहीं ज़ानता। (वही, 10.129.7)

नासदीय सूक्त ही नहीं वेद में अन्यत्र भी जड़ता को सत्य की अवधारणा के रूप में कहीं स्वीकार नहीं किया गया है, न जीवन और जगत् के प्रति ही वहां कहीं कुंठाग्रस्त मनोदशा को अभिव्यक्ति मिली है। ऋषि-दृष्टि में सर्वत्र कुंठा-मुक्त जीवन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की भास्वरता, प्राणवत्ता और ओजस्विता अभिव्यक्त हुई है। वैदिक ऋषि ने जीवन को अल्प की नहीं भूमा की साधना के रूप में देखा है। (छांदोग्यो.—7.23) जब जैमिनि, बादरायण, शबर, शंकर और सायण जैसे परवर्ती पंडितों ने ऋत को सत्य और सत्य को अल्प तक सीमित कर दिया तब न केवल पुरुषसूक्त (ऋ. 10.90) की अल्पतामूलक व्याख्या की गयी बल्कि वेदार्थ के मूल भाव को तिरस्कृत कर स्मृतियों, पुराणों और उनके टीकाकारों ने जगत् और जीवन को प्रवाह-रूप (ऋत) में न देखकर उसे अपने 'अहम्' के खूंटे से बांधकर भारतीय जीवन को पंगु बना दिया।

दर्शन का ऐसा अनिष्टकर प्रभाव इसलिए पड़ा कि भारत में यह 'ध्यानयोगानुगत' दृष्टि का परिणाम है, अर्थात् जीवनव्यापी साधना का अपरिहार्य अंग है, पश्चिम की तरह 'तर्कानुगत' जीवन-निरपेक्ष निष्कर्ष नहीं। इसलिए तर्क को ही दर्शन मानने वालों की दृष्टि में भारतीय दर्शन दर्शन नहीं बल्कि धर्म है। यह धर्म तो है पर ऋत के अर्थ में, 'रिलिजियन' के अर्थ में नहीं।

ऋत के अर्थ में धर्म या दर्शन मनुष्य को उसके अपने जीवन के रूपान्तरण अर्थात् ऊर्ध्वारोहण की ओर ले जाते हैं। इसीलिए ऋत के ज्ञाता ऋषि की दृष्टि में पुरुष सूक्त के वर्ण जन्मगत और जड़ नहीं बल्कि सतत रूपान्तरित विराट् पुरुष के अवयव-रूप हैं। इस काव्य-रूपक को वर्ण-व्यवस्था या समाज की संरचना का आधार बना देना अहं-जड़ित स्वार्थ की पराकाष्ठा है जिसका मूल्य भारतीय समाज को आज भी चुकाना पड़ रहा है।

पुरुष-सूक्त को सहस्रशीर्षा पुरुष के रूपक के रूप में ही लिया जाना चाहिए, समाज की संरचना या वर्ण-व्यवस्था के रूप में नहीं जिसमें सामाजिक उत्कृष्टता-निकृष्टता का निर्णय जन्मगत वर्ण के आधार पर किया जाय, क्योंकि वेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि ये कल्याणमय वचन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्वदेशी, विदेशी सभी लोगों के लिए हैं। (**यजुर्वेद**, 26.2) फिर वेदानुशीलन के अधिकार से किसी को कैसे वंचित रखा जा सकता है? जैमिनि, बादरायण, शंकर, शबर, सायण जैसे मित्रों को ध्यान में रखकर ही शायद वैदिक ऋषि ने 'अभयं मित्राद्' (**अथर्ववेद**, 19.15.6) की बात कही थी। **पुरुष-सूक्त** में तो 'पदभ्यां भूमिः' भी कहा गया है; फिर तो सारी भूमि ही शूद्रों की हुई, दूसरे इसका स्वामित्व कैसे ग्रहण कर लेते हैं?

सच बात यह है कि स्मृतिकारों और मीमांसाकारों की संकीर्ण स्वार्थ-प्रेरित व्याख्याओं के बावजूद प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था के रूप में कभी पूरी तरह से स्वीकार नहीं की गयी। द्रोण ने एकलव्य का अंगूठा भले ही गुरु-दक्षिणा के रूप में मांग लिया हो पर अविवाहिता धीवर-कन्या सत्यवती के पुत्र कृष्ण द्वैपायन को वेदव्यास होने से कौन रोक सका? और व्यास से बड़ा वेदानुशीलन का अधिकारी कौन हुआ? दासीपुत्र विदुर न केवल कौरवों के प्रधानमंत्री बने बल्कि भीष्म और द्रोण से भी अधिक ज्ञानी और साहसी हुए, क्योंकि राजसभा में द्रौपदी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के चीर-हरण का उनके अतिरिक्त किसी और ने विरोध नहीं किया था। परशुराम ने ब्राह्मण होकर भी शस्त्र-धारण कर इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया, फिर भी 'शस्त्रभृताम्' (गीता, 10.31) राम ही हुए परशुराम नहीं। रावण ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर भी राक्षस हो गया, वेद का पंडित होकर भी आचरण से हीन हो गया। बौद्ध धर्म के पराभव के वाद भारत में जिस पौराणिक समाज की रचना हुई उसी में वस्तुतः कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का रूप प्राप्त हुआ।

भारतीय परम्परा का आगम-निगम या ब्राह्मण-श्रमण के रूप में जो अध्ययन किया जाता रहा है उसमें कुछ बातों की अनदेखी कर देने के कारण वह विवेचन तथ्य से दूर जा पड़ता है। भारतीय परम्परा न तो मूलतः निराशावादी है और न परलोकवादी, यह तो अब स्वीकार किया जाने लगा है परन्तु यह नहीं कि मूलतः यह भेदभावमूलक नहीं है और न यह व्यक्तिवादी है। वैदिक मंत्रों में अपवादस्वरूप ही एकवचन का प्रयोग हुआ है, लगभग सर्वत्र द्विवचन या बहुवचन ही मिलते हैं। उपासना के जिन मंत्रों में एकवचन का प्रयोग हुआ है वहां भी उद्देश्य अपनी मुक्ति नहीं वल्कि सबका हित है, यह ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त 'पुरोहितम्' शब्द से स्पष्ट है जिसमें सम्पूर्ण पुर का हित सामने है। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त तो समाजवाद और लोकतंत्रवाद को भी बहुत पीछे छोड़ देता है और 'समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्' (ऋ. 10.191.3) में तो समान मंत्रणा, समान समिति, समान मन और समान चित्त के रूप में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की जिस समान भाव-भूमि का चित्र है उसमें प्रयुक्त अन्तिम शब्द हैं—'यथा वः सु सह असति' अर्थात् जिसमें सब आनन्दपूर्वक साथ रहें। यहां किसी वर्ण का या स्त्री का निषेध है ही नहीं।

ऋग्वेद के इस अन्तिम सूक्त में 'सहचित्तमेषाम्' में 'सह-चित्त' का जिस रूप में प्रयोग किया गया है वह उत्तरवैदिक काल तक तो प्रचलन में रहा पर बाद में विलुप्त-सा हो गया। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ईशावास्योपनिषद् के रूप में लोकप्रिय है। इसके ग्यारहवें मंत्र में यह 'सह' शब्द इस रूप में आया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युः तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

अर्थात् जो विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत को प्राप्त करता है। इस मंत्र में न तो केवल विद्या की बात है, न केवल अविद्या की, न दोनों की अलग-अलग साधना की; इसमें तो बात है दोनों की सह-साधना की। वैदिक जीवन-दृष्टि दोनों की सह-साधना की थी जिसे उत्तर-वैदिक काल और पौराणिक काल में विस्मृत कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप मानव-जीवन के समग्र विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया और भूमा की जगह अल्प की साधना का ही प्रचलन रह गया। सम्भवतः ऐसा श्रमण-परम्परा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हुआ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसका एक अन्य कारण वह भौगोलिक परिवर्तन है जिसके कारण आज से लगभग पांच हज़ार वर्ष पहले पंजाब, राजस्थान और गुजरात से प्रवाहित होने वाली सरस्वती (ऋग्वेद, 2.41.16 के ऋषियों की 'नदीतमा' और महो अर्णः, ऋ. 1.3.12) सूख गयी और उसके किनारे बसने वालों को एक ओर सिंधु नदी के किनारे जाकर बसना पड़ा और दूसरी ओर गंगा-यमुना के किनारे। सिंधु के किनारे जाकर बसने वालों ने ही सिन्धु घाटी सभ्यता का विकास किया जिसे पश्चिमी पंडित भ्रमवश हड़प्पा-मोहनजोदाड़ो की सभ्यता कहकर न केवल वैदिक सभ्यता से भिन्न बल्कि आर्येतर भी प्रमाणित करने का असफल प्रयास करते आये हैं, जो अब निर्मूल प्रमाणित किया जा चुका है। (डॉ॰ रामविलास शर्मा, **पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद**)

इसी सम्बन्ध में यहां ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि भारतीय साहित्य में न आर्यों के वाहर से आने का कहीं उल्लेख मिलता है और न कहीं कभी 'आर्य' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य 'रेस' शब्द से जुड़ी अवधारणा का अर्थ में हुआ है। आर्य न तो सम्प्रदायवाचक शब्द है न जातिवाचक, यह तो संस्कारवाचक शब्द है जो ऋग्वेद (9.63.5) के इस मंत्र से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है—कृण्वंतो विश्वमार्यम्। जिसमें कहा गया है कि आओ! सारे विश्व को आर्य, अर्थात् श्रेष्ठ बनायें। वैदिक ऋषियों को यह ज्ञात था कि यह पृथ्वी 'बहुभाषा-भाषियों' (बहुधा विवाचसं) और नाना धर्मी प्राणियों (नानाधर्माणम्-**अथर्ववेद**, 12.1.45) से भरी हुई है और तभी उन्होंने सवको आर्य वनाने, अर्थात् ऊपर उठाने की बात कही थी। यदि उनकी दृष्टि में संकीर्णता के लिए कोई स्थान होता तो वे 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' (ऋ. 1.89.1) की बात नहीं कहते। ऋग्वेदकालीन (सरस्वती घाटी) सभ्यता लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत ही नहीं बल्कि गोदावरी-कावेरी के तट तक फैल चुकी थी और अपने मूल (सरस्वती घाटी) रूप में भी यह जितनी विस्तृत, व्यापक और समृद्ध थी उतनी प्राचीन विश्व की अन्य कोई सभ्यता नहीं रही। इस भू-भाग में जो सभ्यता-संस्कृति-साहित्य-दर्शन-जीवनपद्धति विकसित हुई वह जन्म-जातिमूलक नहीं बल्कि सर्वांगीण विकास की ऊर्ध्वमूलक-दृष्टि-सम्पन्न थी। तभी वे 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा' (अ. 10.13.1) जैसी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न मनोवैज्ञानिक भाषा का प्रयोग कर सके।

वैदिक दृष्टि का मूलाधार ऋषियों की यह मान्यता थी कि तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए (ऋ. 10.190.1)। **अथर्ववेद** (12.1.1) के अनुसार ये ही पृथ्वी को धारण करते हैं और इसीलिए सविता को सत्यधर्मा (1.24.1) कहा गया है। इन्द्र ने अपनी शक्ति का आधार ऋत को ही बताया है (8.100.4) इसीलिए वैदिक ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऋत ही वायु में और नदी के जल में मधुरता का कारण है। (मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीद् नः सन्त्वोषधीः। ऋ. 1.90.6)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऋग्वेद (4.23.9) में कहा गया है कि ऋत ही ब्रह्माण्ड के नियम का धारक है। इसीलिए दैवी शक्तियां ऋत की पोषक होती हैं। जड़ जगत् और चेतन जगत् दोनों का नियमन और सामंजस्य ऋत से ही होता है।

जड़ चेतन का मूल अन्तर वस्तुतः कितना है? इस सम्बन्ध में चरक ने पते की बात कही है। उन्होंने सेन्द्रिय को चेतन और निरिन्द्रिय को अचेतन कहा है। (**चरक संहिता**, सूत्र स्थान, प्रथम अध्याय, 47) ऊर्जा और पदार्थ के आइन्स्टाइन के इस सूत्र ($E=MC^2$) के आधार पर पदार्थ और ऊर्जा परस्पर परिवर्तनीय हैं। अणु शक्ति के विस्फोट के पश्चात् सूक्ष्म अणु की अब शक्तिहीन कह कर उपेक्षा भी उचित नहीं प्रतीत होती। लेकिन चौथे आयाम (काल) को दिक् (लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई) के साथ युक्त कर आइन्स्टाइन दिक्-काल के परे जिस पांचवें आयाम के अनुसंधान में अपने जीवन के अन्तिम चार दशकों में व्यस्त रहे उसे वे इसलिए नहीं पा सके क्योंकि **चरक संहिता** के इस सूत्र का उन्हें पता ही नहीं था। चेतना के सम्पर्क से ही जड़ में इन्द्रिय और उसकी शक्ति का विकास होता है, इसका बोध तब तक सम्भव नहीं है जबतक विज्ञान मात्र भौतिक विज्ञान रहेगा। इसके लिए उसे जीव-विज्ञान ही नहीं बल्कि जीवन-विज्ञान होना होगा जिसका चमत्कारपूर्ण अनुभव यह है कि पूर्ण से पूर्ण को ले लेने पर भी वह पूर्ण ही रहता है। जीव-विज्ञान का आधार यही है। इसे जीवन-विज्ञान का स्वरूप प्रदान करने के लिए अणु से भी सूक्ष्म मन की शक्ति के रहस्य को समझना होगा। वैदिक परम्परा का आधार मन की शक्ति के विकास और संस्कार की साधना ही रही है और आज भी है।

मन की अपार शक्ति को विकसित करने के विभिन्न साधनों का जैसा संवर्धन भारतीय परम्परा में किया गया वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। मीमांसकों और स्मृतिकारों ने जिस वेद-विरुद्ध जाति-व्यवस्था को सामाजिक स्तर पर रूढ़िबद्ध कर दिया उसके निराकरण के लिए एक ओर भरतमुनि ने **नाट्यशास्त्र** के रूप में और दूसरी ओर व्यास ने **महाभारत** के रूप में पंचम वेद की रचना कर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग सबके लिए सुलभ कर दिया और दूसरी ओर पतंजलि जैसे योगियों ने न केवल योग-साधना का सबको अधिकार प्रदान किया बल्कि 'जात्यन्तर-परिणामः प्रकृति आपूरात् (योगसूत्र, 4.2) के रूप में डार्विन से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व विकास की समुचित व्याख्या की। यह आश्चर्य की बात है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका के अतिरिक्त किसी और का ध्यान इस ओर नहीं गया। जात्यन्तर अर्थात् योनि-परिवर्तन (इवोल्यूशन आफ स्पीसीज़) तभी सम्भव होता है जब एक योनि में उसका इतना पूर्ण विकास हो जाता है कि दूसरी योनि में उसका रूपान्तरण हो सके। यहाँ पतंजलि ने जात्यन्तर का कारण बताया है परन्तु डार्विन ने ऐसा कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया है। भौतिक जगत् के एक आम उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। जल खौलने पर भाप के रूप में और शीत होने पर बर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तत्त्व एक ही है पर गुण-परिवर्तन के कारण ऐसा सम्भव होता है :

नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

कामायनी, जयशंकर प्रसाद

गुण-परिवर्तन मूलतः कपिल के सांख्य दर्शन का ऐसा सिद्धान्त है जिसे आगम-निगम, ब्राह्मण-श्रमण सभी परम्पराओं ने ही नहीं स्वीकार कर लिया बल्कि जो जन-जीवन का आधार भी बन गया। लगभग सम्पूर्ण वैदिकोत्तर भारतीय साहित्य, बल्कि सम्पूर्ण वाङ्मय, गुण-त्रय-सिद्धान्त और तदनुरूप जीवन-परम्परा को स्वीकार करता है। भारतीय साहित्यशास्त्र का तो यह दार्शनिक आधार बन गया, क्योंकि रस-सिद्धान्त का ब्रह्म-सहोदरत्व इसी पर टिका है। विश्वनाथ कविराज की इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि सत्त्वोद्रेक के बिना रसानुभूति की अखण्डता, स्वप्रकाशानन्दता, चिन्मयता आदि तब तक सम्भव नहीं है जब तक 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः' की सात्त्विक स्थिति प्राप्त नहीं होती। (**साहित्य दर्पण**, 3.2-3)

वैदिक ऋत-चित् की साधना के इस रूप में गुण-त्रय संस्कार-साधना में परिवर्तित हो जाने से ऋत की 'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः' (अ. 9.73.6) की सामाजिक मान्यता शिथिल पड़ती गयी क्योंकि वैदिक उपासना ने पौराणिक भक्ति का वह रूप ले लिया जिसका प्रतीक **विष्णु सहस्रनामा** का वह पहला श्लोक है जिसमें कहा गया है कि "जिसके स्मरणमात्र से ही जन्म और संसार के बंधनों से छुटकारा मिल जाता है उस विष्णु का स्मरण करता हूँ।" यह धारणा अवैदिक तो है ही इसमें पुरुषार्थ का जो आत्यंतिक निषेध है उसके कारण भारतीय समाज शनैः शनैः पुरुषार्थ-विमुख हो 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम' की स्थिति तक पहुँच गया क्योंकि सबके दाता राम हैं। परम सत्ता की स्वीकृति वेद में भी है, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए यज्ञ के रूप में निरन्तर प्रयास करना होता है। यज्ञ, अर्थात् मनुष्य के उपभोग से प्राकृतिक सम्पदा में, जो छीजन होती है, प्रदूषण होता है, उस कमी की पूर्त्ति का ऐसा सामूहिक प्रयास जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास और प्रकृति के संरक्षण दोनों में सहायक हो।

श्रमण-मत एवं पौराणिक भक्ति-मार्ग ने सभी जातियों के लिए मुक्ति का मार्ग तो प्रशस्त किया लेकिन सामाजिक व्यवस्था भेद-मूलक ही बनी रही। श्रमण-पंथ हो या ब्राह्मण-पंथ दोनों में संन्यासियों के लिए जाति-व्यवस्था मान्य नहीं थी। गौतम बुद्ध और महावीर ने इसे बदलने का जो प्रयास किया वह जाति-व्यवस्था को शिथिल तो कर सका परन्तु वह भारतीय समाज को कोई नयी सामाजिक व्यवस्था नहीं दे सका जिसका लाभ उठाकर शंकराचार्य और सायण ने पुनः स्मृतिकारों एवं उनके टीकाकारों का सहारा लेकर इस व्यवस्था को और संकीर्ण एवं जड़ीभूत कर दिया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह व्यवस्था इस प्रकार सबल और प्रभावशाली हो गयी कि भारत में आये इस्लामधर्मी और ईसाईधर्मी भी इससे प्रभावित हो गये और वे भी आज़ अपने में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आरक्षण की मांग करने लगे हैं। जिस अस्त्र-शस्त्र से वे हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार कर रहे थे आज वे स्वयं उसके शिकार हो गये प्रतीत होते हैं।

पर यह आशा लगाये रखना भी व्यर्थ है कि विज्ञान इस सामाजिक भेद-भाव को दूर करेगा। इस प्रसंग में दो बातें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। पहली तो यह कि स्वयं वैज्ञानिकों की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं होती। वे अपने विषय के मेधावी विशेषज्ञ भले ही हों पर अन्य बातों में वे भी सामान्य लोगों की तरह ही पूर्वाग्रहग्रस्त होते हैं। दूसरी बात यह है कि विज्ञान और टेक्नोलोजी से प्राप्त शक्ति को सत्ताधारी वर्ग ने इस प्रकार से हथिया लिया है कि उसका भेद-भाव-हीन समाज-संरचना के लिए उपयोग यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण इतने महंगे हो गये हैं कि इनका उपयोग बड़े देशों की सरकारें तथा बड़े औद्योगिक और व्यावसायिक घराने ही कर सकते हैं। यदि पुष्पक विमान तब सबके लिए सम्भव नहीं था तो आज चन्द्र-भ्रमण भी क्या सबके लिए सुलभ है? जब विश्व की सबसे बड़ी संस्था संयुक्त-राष्ट्र-संघ को पांच देशों के विशेषाधिकार ने पंगु बना रखा है तब संसार के किसी मंच से समान अधिकार की बात करने का क्या तुक है?

विज्ञान के क्षेत्र तथा आधुनिक पाश्चात्य जीवन में वास्तविक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के अभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आइन्स्टाइन के द्रव्य-ऊर्जा-परस्पर परिवर्तनीयता सूत्र की दार्शनिक-सामाजिक परिणतियों पर वहां उसी प्रकार से सांगोपांग विचार कर तदनुरूप समाज की संरचना नहीं की गयी जिस प्रकार से भारत में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुरूप, या एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठोपनिषद्, 2.2.9) के अनुरूप न केवल सामाजिक संरचना नहीं की गयी बल्कि पुरुष-सूक्त के सहर्ष-शीर्षा पुरुष के रूपक को भी मीमांसकों और स्मृतिकारों ने विकृत कर समाज को निस्पंद कर दिया। वैदिक यज्ञ और हिंसा तथा जाति-व्यवस्था के विरुद्ध श्रमणों ने जो आवाज़ उठाई उसमें 'कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने' (ईशावास्योपनिषद्) की मानवमात्र की स्वाभाविक आकांक्षा के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए हिन्दू धर्म के पौराणिक रूप ने जैनों और बौद्धों को तो लगभग आत्मसात् कर ही लिया बाहर से आई ईसाई और इस्लामी परम्परा को भी किसी हद तक अपने रंग में रंग लिया। फलतः जन्म पर आधारित सामाजिक असमानता की समस्या लगभग सारे विश्व में ज्यों की त्यों बनी हुई है।

इसीलिए जब धर्म के धर्म की बात की गयी है तो विज्ञान के मर्म की बात करना भी आवश्यक है। धर्म यदि समाज को धारण करने की क्षमता खो दे तो क्या बचा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रहेगा? विज्ञान यदि वैज्ञानिक दृष्टि की शक्ति विकसित करने की शक्ति से वंचित रहे तो उसका मर्म कोई कैसे समझ पायेगा? वैज्ञानिक उपकरण मनुष्य की इन्द्रियों की प्राकृतिक शक्ति में तो वृद्धि कर देते हैं परन्तु न तो उसकी मानसिक शक्ति में वृद्धि कर पाते हैं और न पाशविक भावों का संस्कार ही उनसे सम्भव है। संसार में अणु बम का प्रयोग किसी 'असभ्य' देश ने किया है क्या? दो-दो महा युद्ध 'असभ्य' राष्ट्रों के बीच में हुए हैं क्या? आतंकवाद और हिंसा पर आधारित राजनीति का आरम्भ यूरोप से ही नहीं हुआ क्या? साम्प्रदायिक झगड़े भारत ही नहीं यूरोप या अन्य देशों में नहीं हो रहे हैं क्या?

अतः इस विश्व-व्यापी संकट की घड़ी में धर्म और विज्ञान दोनों को ऋत की सत्ता को स्वीकार कर चलना पड़ेगा। श्री अरविन्द ने मानस की अतिमानस और मानव की अतिमानव के रूप में विकास की जो कल्पना की थी वह ऋत-चित् पर आधारित धर्म और विज्ञान, आध्यात्मिक और भौतिक विकास के सहयोग से ही सम्भव है।

इसके लिए धर्म-सम्बन्धी और विज्ञान-सम्बन्धी प्रचलित दृष्टिकोण में परिवर्तन करना होगा। यह मानकर चलना होगा कि धर्म का मूल आचरण है, ऐसा आचरण जो मनुष्य के मन का संस्कार कर, उसकी शक्ति का विकास कर, उसे मानव से महामानव बनने के लिए प्रेरित करता है। इसी प्रकार से विज्ञान को अपने को भौतिकी और भौतिक शक्तियों के विकास तक सीमित न रखकर सामान्य मनुष्य के जीवन-धरातल को ऊपर उठाकर उसे संस्कार ग्रहण करने योग्य स्थिति तक ऊपर उठाने में सहायक होना होगा। जब धर्म और विज्ञान समवेत रूप से इसे साधेंगे तभी धर्म का रहस्य और विज्ञान का मर्म मनुष्य के लिए साथ-साथ सुलभ होंगे।

'सेवक की प्रार्थना' (वर्धा, 1936) शीर्षक कविता में महात्मा गांधी ने लिखा था—

> **"हमें ग्रहणशीलता और खुला दिल दे,**
> **तेरी अपनी नम्रता दे,**
> **हिन्दुस्तान की जनता से**
> **एकरूप होने की शक्ति और उत्कंठा दे।**
> **हे भगवन्! तू तभी मदद के लिए आता है**
> **जब मनुष्य शून्य बनकर तेरी शरण लेता है।**
> **हमें वरदान दे कि सेवक और मित्र के नाते**
> **जिस जनता की हम सेवा करना चाहते हैं**
> **उससे कभी अलग न पड़ जायें।**
> **हमें त्याग, भक्ति और नम्रता की मूर्त्ति बना, ताकि**
> **इस देश को हम ज़्यादा समझें और ज़्यादा चाहें।"**

चाह बेसमझे भी पैदा हो सकती है। होती है। पर जब यह अंधी होती है तब या तो टिकती नहीं या पतन का कारण बन जाती है। जहां सम्यक् समझ के बाद भी चाह बढ़ती जाती है तब वह टिकती भी है और आत्मकारक भी होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारत ने प्राकृतिक शक्तियों की समझ के रूप में जीवन और जगत् के लिए ऋत-चित्-रहस्य को प्राप्त किया था। वह प्रकृति पर विजय के उन्माद के रूप में नहीं बल्कि तदनुरूप उस ज्ञान से अपने जीवन को समृद्ध कर सहज भाव से जीवन-तरी को खेने के लिए। यह विज्ञान का, प्रकृति के रहस्यों का, दैवी सम्पदापरक उपयोग है। लेकिन जब विज्ञान की शक्ति का आसुरी सम्पदा के रूप में संहारक या मारक या मादक उपयोग किया जाने लगता है तब वह क्षय ही नहीं रावण की स्वर्णमयी लंका तक के सर्वनाश का कारण बन जाता है। जो लोग भोले बनकर यह कहते हैं कि विज्ञान न तो नैतिक है, न अनैतिक तब वे वस्तुतः अपनी मूंछ के नीचे मुस्कुरा कर अपनी कुटिल बुद्धिमानी पर पर्दा डाल जन-साधारण को मूर्ख बनाना चाहते हैं। जो वैज्ञानिक आज प्रयोगशालाओं में विनाशकारी साधनों को विकसित करने में लगे हैं वे क्या इसका दुष्परिणाम नहीं जानते? फिर तो यह मानना पड़ेगा कि स्वयं वैज्ञानिकों में ही वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव है जिसके कारण आज विज्ञान के धर्म की बात उठाना न केवल प्रासंगिक है बल्कि अनिवार्य भी हो गया है।

यदि अद्वैत की शंकराचार्य की मायावादी व्याख्या को नज़रअंदाज कर दें तो अद्वैत की मूल मान्यता यह रह जाती है कि सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण एक ही है। आइन्स्टाइन का सूत्र एवं क्वांटम भौतिकी भी इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि द्रव्य और ऊर्जा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। मनुष्य के गुण-सूत्र चूंकि अन्य जीवों से भिन्न हैं इसलिए मनुष्य यदि मनुष्य है तो फिर मनुष्य की मनुष्यता को भेदमूलक मानकर समाज की संरचना, या धर्म की भिन्नता, या विज्ञान की मानव-निरपेक्षता या इन सबकी अन्तिम मूल्य-निरपेक्षता (ऋत-निरपेक्षता) का आधार भी समाप्त हो जाता है। मनु तक ने धर्म के जो दस लक्षण (मनुस्मृति, 6.92) गिनाये हैं वे वस्तुतः सार्वदैशिक, सार्वकालिक, सार्ववर्णिक और इसीलिए मानवमात्र के लिए हैं।

वेद-दृष्टि की विशिष्टता यह है कि वह वस्तुतः दृष्टि-निष्ठा है। जैसे भौतिक विज्ञान के प्रयोग का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है वैसे ही दृष्टि-निष्ठा की प्राप्ति का मार्ग भी। एक ओर अध्यात्म और विज्ञान दोनों के अलग-अलग मार्गों को परस्परपूरक बनाने की आवश्यकता है और दूसरी ओर अल्प की साधना के संकीर्ण मार्ग से भूमा की साधना के व्यापक मार्ग का अवलंबन करने की है। ऐसी स्थिति में ऋत के बोध और पंचम आयाम के बोध के साथ-साथ ब्रह्माण्ड-चेतना के अवतरण का मार्ग भी प्रशस्त होगा और मानव-मन की ग्रहणशीलता भी उसके उपयुक्त हो सकेगी।

श्री अरविन्द के अनुसार वेदान्त का 'विज्ञान' वेद का 'ऋतम्', अर्थात् 'दिव्य सत्य' है। (वेद-रहस्य, पूर्वार्द्ध, पृ. 369) ऋतम् की, दिव्य सत्य की, गति-यति क्या है? पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना उसकी दैनिक गति है और सूर्य के चारों ओर घूमना उसकी वार्षिक गति। दैनिक गति दिन-रात का कारण है और वार्षिक गति ऋतु-परिवर्तन, जीव में गुणात्मक परिवर्तन, समाज में गुणात्मक परिवर्तन, विश्व में गुणात्मक परिवर्तन और ब्रह्माण्ड में गुणात्मक परिवर्तन की। **ऋग्वेद** (10.190.3) में कहा गया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है—'यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् पहले के समान सृष्टि की। पर 'यथापूर्वम्' में नूतन का निषेध नहीं है—"अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः इड्यो नूतनैः उत' (ऋ. 1.1.2) इससे यह स्पष्ट है कि कल्पांतर में पूर्व के साथ-साथ नूतन भी समाविष्ट होता है।

जड़ और चेतन के संयोग से जब जीव के जीवन का आरम्भ होता है तब व्यक्ति के रूप में उसका विकास मां-बाप-परिवार-समाज पर निर्भर करता है और तब उसमें स्वयं की जो शक्ति विकसित होती है उससे वह पुराने कार्यों की मात्र आवृत्ति ही नहीं करता बल्कि उनमें नवीनता का समावेश भी करता है जो उसके दैनिक चक्र को ऋतु-चक्र तक ले जाता है। पर यहां यह ध्यातव्य है कि दैनिक चक्र के बिना ऋतु-चक्र सम्भव नहीं है।

ऋतु-चक्र से जिस प्रकार संवत्सर का चक्र बनता है उसी प्रकार से संवत्सर से युग और युग से कल्प का चक्र पूरा होता है। लेकिन यहां मैं इस काल-चक्र के विस्तृत विवेचन में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि जब व्यक्ति का उत्कर्ष समाज के उत्कर्ष की और समाज का उत्कर्ष विश्व के उत्कर्ष और ब्रह्माण्ड के उत्कर्ष में सहायक होने की प्रज्ञा प्राप्त करता है तब मानव-चेतना जीवन और जगत् के अनन्त प्रवाह के रहस्य से अभिभूत हो उसमें सतत सहायक होने का प्रयास करती है, प्रकृति का स्वामी बनने का अहंकार पालकर बाधक बनने की नहीं। इसी को ध्यान में रखकर **गीता** (11.33) में कहा गया है—"निमित्तमात्रं भव सव्य साचिन्।" सव्यसाची तो प्रतीक है, ऋत-चित् को समझकर हर व्यक्ति को ऐसा ही आचरण करना है, तभी उसका जीवन भी पूर्ण होगा और वह समाज की पूर्णता में भी सहायक होगा। इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अपूर्ण समाज में व्यक्ति का पूर्ण विकास सहज रूप में नहीं हो पाता।

मानव-चेतना और ब्रह्माण्ड-चेतना में तत्त्वतः वैसी ही अभिन्नता है जिस प्रकार से जल के एक कण और महा समुद्र में। जैसे जल-कण महा समुद्र से एकाकार हो सकता है वैसे ही मानव-चेतना भी ब्रह्माण्ड-चेतना से एकाकार हो सकती है। पर इस अन्तराल की अवधि में भी मानव-चेतना अपने परिष्कार-संस्कार-रूपान्तर आदि कर सकने की जिस क्षमता से सम्पन्न है उसके उस कार्य में धर्म और विज्ञान भी सहभागी हो सकते हैं। हां, इसके लिए धर्म को धर्म के स्वरूप की, धारण करने की शक्ति की चेतना को पुनः प्राप्त करना होगा और विज्ञान को पुनः अपने उस मूल मर्म को पाना होगा जो ध्वंसात्मक नहीं होकर रचनात्मक है।

इस संभ्राति-काल में सम्यक् मूल्य-बोध से ही ऐसा दिशा-बोध प्राप्त हो सकता है, जिससे नये समाज की रचना सम्भव हो सकेगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऋत, प्राकृतिक नियम और मानवीय अनियम

यशदेव शल्य
पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर, 302015

उन्मीलन के पिछले अंकों में दयाजी ने सोचने के लिए आमंत्रित करते हुए कुछ लेख लिखे हैं और कुछ प्रश्न उठाकर उनके उत्तर दिये हैं। सोचने के लिए उनके आमंत्रण का अर्थ यह है कि उन प्रश्नों के उनके उत्तरों पर हम आगे विचार करें, उनके उत्तर यदि हमें नहीं जँचें तो हम उनके दोष दिखाते हुए दूसरे उत्तर दें, यदि उनके उत्तर जँचें भी तो भी उन उत्तरों को और गहराई अथवा विस्तार देने का प्रयत्न करें। यह भी हो सकता है कि किसी को सब प्रश्न, या उनमें से कुछ प्रश्न ही, अप्रश्न, प्रश्नाभास, असम्यक् या असमुचित रूप से रचित प्रश्न लगें, तो वह उनमें ये दोष दिखाये और इस तरह बात आगे बढ़े। किन्तु आश्चर्य और खेद की बात है कि किसी ने उन पर कोई प्रतिक्रिया ही नहीं की। मैंने प्रथम लेख पर प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, किन्तु तब भी उससे कोई प्रेरित नहीं हुआ। और नहीं तो मेरी प्रतिक्रिया पर ही प्रतिक्रिया होती, पर वह भी नहीं हुई। आज मैं एक बार फिर दयाजी के आमंत्रण को स्वीकार करते हुए उनके उठाये प्रश्नों और उनके उत्तरों पर विचार करने जा रहा हूँ और आशा करता हूँ कि कम से कम अब कुछ और पाठक भी इस विचार-विमर्श में भाग लेंगे।

उन्मीलन के जनवरी, 1996 अंक में दयाजी ने ऋत के विचार को लेकर प्रश्न उठाया है। उनके प्रश्न की प्रेरणा ऋत विषयक एक गोष्ठी में वैज्ञानिकों का भाग लेना है। इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ कि इस गोष्ठी में वैज्ञानिकों का क्या काम? उनके अनुसार, वैज्ञानिक यह कहने का प्रयत्न कर रहे थे कि जड़ जगत् में भी एक आश्चर्यजनक अन्तर्व्यवस्था है और इस व्यवस्था का अव्यवस्था में से आविर्भाव होता है। इस पर दयाजी का प्रश्न है "पर ज़रा सोचिए कि शुद्ध जड़ प्रकृति के सन्दर्भ में यह बात कहने का, कि उसमें व्यवस्था है या अव्यवस्था, यह नियम से संचालित होती है या ऐसे ही, क्या अर्थ होगा? 'अराजकता', 'अव्यवस्था' आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग एवं सोच केवल राज्य और मनुष्य की बनायी हुई संस्कृति के सन्दर्भ में ही मूलतः युक्त है।" (पृ. 1) यहाँ किसी को आश्चर्य हो सकता है कि प्रकृति जड़ है तो इससे उसके नियमानुसारी होने या नहीं होने में कोई अन्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्यों नहीं रहता? इससे उनका आशय यह प्रतीत होता है कि प्रकृति के जड़ होने का अर्थ है कि प्राकृतिक घटनाएँ जैसे घटित होती हैं वैसे ही घटित हो सकती हैं, वे अन्य किसी प्रकार से घटित नहीं हो सकतीं। यदि पानी एक निश्चित ताप-मात्रा पर उबलता है तो वह उसी प्रकार उबलेगा, वह अन्य किसी प्रकार से व्यवहार नहीं कर सकता। किन्तु इधर पता चला है कि पारमाणविक स्तर पर ऐसा नहीं है, उस स्तर पर घटनाएँ उस प्रकार नियत रूप से घटित नहीं होतीं। सम्भवतः ब्रह्मांडीय स्तर पर भी ऐसी ही अनियतता है। इस पर दयाजी का कहना है कि "पर इससे मूल वात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक तो इससे न तो विज्ञान की प्रगति पर ही असर पड़ा है और न उससे निकलने वाली उस यंत्र-व्यवस्था पर जो मनुष्य के प्रकृति पर अधिकाधिक नियंत्रण का सबूत देती है।"(पृष्ठ 5)

किन्तु यदि इस बात को थोड़ा गहराई से देखें तो यह बनती दिखायी नहीं देती, क्योंकि दयाजी जिस जड़ नियम की बात कर रहे हैं उसकी जड़ता इसी बात में है कि वह सर्वत्र निरपवाद रूप से घटित दिखायी देता है। शीतल, मंद, सुगंध पवन और झंझावात दोनों एक ही नियम और व्यवस्था के अन्तर्गत और एकसमान हैं। इसी से विज्ञान और यांत्रिकी, विशेषतः यांत्रिकी, सम्भव हैं। किन्तु यदि ऐसा नहीं हो, पानी किसी ताप विशेष पर कभी उवले, कभी नहीं उवले, पत्थर ऊपर फैंकने पर कभी ऊपर जाए और कभी नहीं जाए, सूर्य की कक्षाएँ अनियत रूप से बदलती रहें, तो यह जगत् ही नहीं रहे, विज्ञान और यांत्रिकी की तो बात ही क्या है। निश्चय ही प्राकृतिक जगत् में ऐसा नियम दृष्टिगत होता है, किन्तु प्रकृति में नियम हो ही, अनियम नहीं हो, यह कैसे अनिवार्य है? इसी प्रकार अव्यवस्था में से व्यवस्था के जन्म की बात को दया जी ने यह कह कर टाल दिया है कि जड़ प्रकृनि के सन्दर्भ में यह कहने का कोई अर्थ ही नहीं बनता कि इसमें व्यवस्था है या अव्यवस्था, यह किसी नियम से संचालित होती है या विना नियम के! किन्तु इधर वैज्ञानिकों को ऐसा लगने लगा है कि ब्रह्माण्ड की वर्तमान व्यवस्था कभी अविद्यमान थी, उस समय केवल एक विशाल पिंड था, जिसमें एक विस्फोट घटित हुआ जिससे उस व्यवस्था के साथ ब्रह्मांड का आविर्भाव हुआ जो व्यवस्था इसमें हमें अव मिलती है। यह उपनिषद् के असदेवेदमग्र आसीत् जैसा है। किन्तु ऋग्वेद नासदीय सूक्त में इससे भी आगे जाता है और देखता है कि तव असत् और सत् दोनों ही नहीं थे। किन्तु यहां महत्त्वपूर्ण वात यह है कि भौतिक विज्ञान अपने व्यावहारिक अनुसन्धानों के क्रम में इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि जगत् की यह जड़ व्यवस्था जड़ अव्यवस्था में से आविर्भूत हुई है और यह व्यवस्था अद्‌भुत है। अव, दयाजी के इस प्रतिपादन के मूल में यह धारणा निहित मालूम होती है कि 'नियम की इस जड़ अनिवार्यता' को 'व्यवस्था', या 'नियम' भी, नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'व्यवस्था' का अर्थ है कि इन प्राकृतिक घटनाओं को व्यवस्थित करने के लिए किसी ने कोई व्यवस्था दी है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जबकि वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृति में घटनाएँ स्वतः और एक ही प्रकार से घटित होती रहती हैं और उससे किसी भिन्न प्रकार से घटित हो ही नहीं सकतीं। घटनाओं के घटने के इस रूप को जब हम समझ लेते हैं तो वह 'नियम' और 'व्यवस्था' कहा जाने लगता है। अब, इसे 'नियम' कहा भी जा सकता है, क्योंकि घटनाओं के बीच स्थिर सम्बन्ध अब समझ और गणना के विषय हो जाते हैं। ये नियम, व्यवस्था, अव्यवस्था आदि मानवीय चेतना के विषय हैं। यह चेतना वस्तुओं और घटनाओं को 'जैसी हैं' के रूप तक सीमित होकर नहीं देखती बल्कि 'जैसी होनी चाहिएँ' इस रूप में देखती है। इसमें एक ऐसे नियम की कल्पना का आविर्भाव होता है जिसका अस्तित्व वस्तु में नहीं होकर चेतना में होना है और यह इस प्रकार कि वस्तु को, और स्वयं चेतना को भी, उस विकल्पित नियम के अनुसार होना चाहिए। यह वस्तु निश्चय ही उस प्रकार के नियम में ही व्यवस्थित है जैसा यह है किन्तु मानो यह नियम उसे दिया गया है, अपने आप से हो सकता था कि इसका कोई नियम होता ही नहीं। किन्तु यह, उनके अनुसार, एक भ्रांत धारणा है। प्रकृति के सम्बन्ध में उनके विचार के आधार में एक साधारण भूतवैज्ञानिक दृष्टि पूर्वगृहीत है। वह यह कि प्रकृति भौतिक-यांत्रिक नियमों के अधीन घटित होती है और ये नियम इसमें अनिवार्य और सर्वव्यापक हैं।

अब, यह द्रष्टव्य है कि भूतवैज्ञानिक दृष्टि प्रकृति विषयक एक अत्यन्त सीमित और उस सीमा के अन्तर्गत भी एक विशेष दृष्टि है जबकि वह दृष्टि, जो प्रकृति को ऋत से शासित देखती है, बहुत व्यापक है। भौतिक विज्ञान में प्रकृति भौतिक विषय के रूप में कल्पित है और उस कल्पना के जो बाहर पड़ता है वह या तो उसका अस्तित्व ही अस्वीकार करती है अथवा उसे अपनी विचार-सीमा से बाहर मानती है। इनमें दूसरे विकल्प में कम से कम एक विनम्रता है, संकुचितता चाहे प्रायः पहले विकल्प के जैसी ही हो, जबकि पहले में एक दुश्शीलता भी है। दूसरे विकल्प की संकुचितता का एक औचित्य भी देखा जा सकता है, कि उससे एक क्षेत्र विशेष में अधिक व्यवहार-कुशलता सिद्ध होती है। किन्तु जैसाकि हम देखेंगे, प्रथम दृष्टि का कोई औचित्य नहीं बनता। इन दृष्टियों के विपरीत ऋत-दर्शी दृष्टि ब्रह्मांडीय व्यापकता वाली है, उसमें भौतिक-मानसिक-आध्यात्मिक एक-दूसरे से वियोज्य नहीं हैं, न एक आयाम दूसरे में अपचेय (रिड्यूसीबल) है। उसमें न तो सब ब्रह्म है और न सब भौतिक-यांत्रिक। इस प्रकार यह दृष्टि सत्ता में सैद्धान्तिक या सुविधात्मक-प्रयोजनमूलक किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करती। अब, यदि दयाजी यह स्वीकार करते हैं कि मानव-चेतना के लिए व्यवस्था और अव्यवस्था का कुछ अर्थ है और यह अर्थ किसी वास्तव स्थिति में निहित होता है तब या तो यह मानना होगा कि भौतिक प्रकृति और मानव-चेतना नितान्त वियुक्त, नितान्त निरपेक्ष सत्ताएँ हैं, या फिर यह मानना होगा कि इनके बीच भेद हमने केवल अपनी व्यावहारिक सुविधा के लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किया हुआ है, अन्यथा ये एक ही सत् के क्रमागत दिशान्तर मात्र हैं। अब इस तथाकथित 'शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि' का भोंटापन सरलता से देखा जा सकता है। इसके अनुसार, "पहले सब भौतिक अस्तित्व ही था, इसमें कुछ रासायनिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः कृमि-वानर-मनुष्य की उत्पत्ति हुई। अब, यह भौतिक-रासायनिक जीव अभौतिक रूप, रस, गंध आदि देखने-चखने लगा और उसमें काम-क्रोधादि संवेगात्मक वृत्तियों का आविर्भाव हो गया। उसके बाद वह सुन्दर-असुन्दर, शुभ-अशुभ, भद्र-अभद्र, युक्त-अयुक्त, व्यवस्था-अव्यवस्था आदि देखने लगा। किन्तु इस सब की कोई वस्तुता नहीं है।" अब इस पर प्रश्न उठ सकता है कि "ये आप, जो इस नियम-अनियम की बात कर रहे हैं और जो इस सबकी— नियम-अनियम की बात करने की— समझ है, ये भी क्या इसी अवस्तुता के अन्तर्गत आते हैं?"

अब, आपको विश्वास हो या नहीं हो, ऐसे असंख्य लोग हैं—साधारण नहीं असाधारण लोग, वैज्ञानिक, दार्शनिक, समाज-चिन्तक, राजनीति-चिन्तक—जो यह मानते हैं कि ये भी इसी अवास्तविकता के अन्तर्गत आते हैं। दयाजी अंशतः ऐसे ही देख रहे हैं और अंशतः ऐसे नहीं भी देख रहे हैं। वे यह मानते हैं कि 'भौतिक जगत् अलग है और मानुषिक जगत् अलग, इनमें पहला एक जड़ नियम के अधीन घटित होता है और दूसरा अपने नियम बनाता है और अक्सर उन नियमों के अनुसार चलने में असमर्थ रहता है।' किन्तु यदि कोई इस दृष्टि को एकांगी पाये, वह भौतिक और मानुषिक जगत् को एक ही सत्ता के रूप देखे और उस सत्ता को भौतिक नहीं चेतन देखे तो उसे सहज ही भ्रान्त कैसे कहा जा सकता है?

यहां दयाजी आपत्ति कर सकते हैं कि "तब सारी बात आधुनिक विज्ञान की परिधि से बाहर चली जाती है। प्रश्न यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक ऋत की इस चर्चा में क्या करने जाते हैं?" किन्तु दयाजी का यह प्रश्न भी सही नहीं होगा, क्योंकि इस सीमित विज्ञान-दृष्टि के अन्तर्गत तो किसी नियम और व्यवस्था को ही वस्तुगत और अनिवार्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, केवल हमारी व्यवहार-दृष्टि का आरोप ही कहा जा सकता है। उदाहरणतः यदि हम यह मान भी लें कि 'क$_1$ ख$_1$ का वस्तुतः ही कारण है' तो भी इस दृष्टि के अन्तर्गत 'कत्व खत्व का कारण है' यह कहने के लिए कोई भी युक्ति नहीं है, और यदि इसके लिए कोई युक्ति नहीं है तो प्रकृति में नियम की अनिवार्यता और अव्यवस्था की संभावना के निषेध के लिए भी कोई आधार नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में, "पर्वत वह्निमान् है क्योंकि वह धूमवान् दिखाई दे रहा है" यह कथन आधुनिक विज्ञान-दृष्टि के अन्तर्गत अनवधार्य है। किन्तु वास्तव में तो यह कथन भी अनवधार्य है कि 'क$_1$ ख$_1$ का कारण है' जैसाकि ह्यूम ने दिखाया है और कांट ने इसे 'वस्त्ववधारण की कोटि' कहकर इसकी अवस्तुता और सविकल्पकता स्वीकार की है। और ये दो दार्शनिक संयुक्त रूप से आधुनिक विज्ञान के दोनों गोलार्धों को नाप लेते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किन्तु विज्ञान-दृष्टि के भू-तल से थोड़ा ऊपर उठते ही नियम की वह नियामक अनिवार्यता दिखायी देने लगती है जिसकी दयाजी ने एक प्रकार के अस्वीकारपूर्वक बात की है। किन्तु तल से ऊपर उठने पर वह और बहुत कुछ भी दिखायी देने लगता है जिसे दयाजी नहीं देख रहे हैं। इस ऊर्ध्वतर बोध को समझने के लिए यहां शीर्षस्थ आधुनिक वैज्ञानिक अल्वर्ट आइंस्टाइन को उद्धृत करना उपयोगी होगा। वे कहते हैं—"मेरा धर्म उस उच्चतर असीम सत्ता के प्रति विनम्र प्रशंसाभाव में है जिसके व्यक्त सूक्ष्म विस्तार को हम अपने दुर्वल मस्तिष्क से भी देख पाने में समर्थ हैं। इस उच्चतर सत्ता की उपस्थिति के प्रति मेरा प्रगाढ़ भावात्मक लगाव है जिसने अनिर्वचनीय ब्रह्मांड के रूप में अपने को व्यक्त किया है। यही मेरी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा है।"(1. लिंकन बार्नेट—द यूनीवर्स ऍंड डॉक्टर आइंस्टाइन, पृ. 95-96 (यहाँ श्री सिद्धेश्वरप्रसार लिखित ब्रह्मविज्ञानोपनिषद् पृ. 4 से उद्धृत)) **यह विराट् के सम्मुख स्तब्धता और विस्मय-विमुग्धता का वही भाव है जो कांट ने अपने भीतर आत्मा में साक्षात्कृत नैतिक नियम से तुलनीय तारकित नभ को देखकर अनुभव किया था। यह व्रह्मांड, इसका धारक नियम और इसकी व्यवस्था उससे कहीं अधिक अद्‌भुत हैं जितनी तारकित नभ में परिलक्षित होती है—असंख्य तारा मंडल और ताराओं का मांडलिकता में धारण, असंख्य जीव-जातियां और व्यष्टियों का जातिकता में और जातियों का जैवता में धारण, यह सब एक अद्‌भुत सत्य है जिसका बोध किसी को भी उदात्तता देता है।**

किन्तु ऋत को लेकर एक आधारभूत कठिनाई यह है कि यह मनुष्य के स्तर पर आकर निष्प्रभाव दिखायी देता है। मनुष्य वह है जो प्राकृतिक नियमों के अनुसार घटित नहीं होता, उनका अवशतः अनुसरण भी नहीं करता, बल्कि उनको खोजता-समझता है। इसी प्रकार उसे अपने अस्तित्व के भी व्यावहारिक और धारक नियमों को खोजना और जाँचना होता है और उस जाँच के अनुसार उनका संशोधन-परिमार्जन करना होता है। समाज, भाषा, अर्थ-तंत्र आदि एक सीमा तक व्यावहारिक व्यवस्थाएँ कही जा सकती हैं। यद्यपि ये व्यावहारिक व्यवस्थाएँ भी नितान्त यादृच्छिक या काल्पनिक नहीं होतीं किन्तु ये तात्त्विक भी नहीं होतीं। किन्तु मनुष्य के अस्तित्व का भी कोई आधार-नियम होना ही चाहिए जिसकी विद्यमानता उसकी अपनी परिभाषा की खोज की निरन्तर उद्विग्नता में परिलक्षित होती है। उसकी स्थिति आत्म-विस्मृति से अभिशप्त और दिव्य लोक से निष्कासित सत्त्व के जैसी है जिसे अपनी दिव्यता को पुनरधिगत करना होता है।

किन्तु इसका अर्थ हो जाता है कि मनुष्य और शेष अस्तित्व परस्पर आधारभूत रूप से भिन्न हैं। शेष जगत् जबकि अपने ऋत में सहज रूप से प्रतिष्ठित है, मनुष्य उससे वियुक्त रहता है या फिर संपूर्ण ब्रह्मांड में एक ही ऋत व्याप्त है और यह ब्रह्मांड अपने ऋत की साधना के क्रम में ही मनुष्य तक पहुँचा है और यहां पहुँच

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर उसे अपनी खोज का और अपने से अपनी दूरी का बोध हुआ है। भौतिक नियम और व्यवस्था ऋत नहीं होकर ऋत की साधना का प्रथम चरण है, अथवा यह उस आत्मानुशासन का जड़ प्रतिबिम्ब है जो ब्रह्मांडीय आत्मान्वेषण की पार्यन्तिक सिद्धि है। यह पार्यन्तिक स्थिति कांट के अन्तर्गुहावासी नैतिक नियम से चेतना के आत्मचेतन तादात्म्य, वासुदेव के विराट् रूप के अर्जुन की चेतना में अवतरण, बुद्ध की संबोधि के रूप में सिद्ध दृष्टि और याथार्थ्य के बीच अभेद, के रूप में प्रतिफलित होती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि ब्रह्मांड की अस्फुटता की स्थिति, जिसे हम व्यवस्थाभाव या असत् की स्थिति के रूप में देखते हैं, ऋत के अभाव या उसके अस्फुट भाव की स्थिति है जो स्फुट होकर जड़ ऋत के रूप में आविर्भूत होती है। यह जड़ ऋत स्फुटतर होता हुआ जैव चेतना में विकसित होता है किन्तु अपनी जड़ता में तमसावृत ही रहता है। इस तमस् का भेदन आत्मचेतना के साथ आरंभ होता है और इस प्रकार ऋत का विषय रूप में आक्षेप और उस विषयता में उसका अन्वेषण आरंभ होता है। विषय-विषयी रूप में उद्‌भिन्न यह चेतना जितना ही विषय में प्रवेश करती है ऋत की विभुता उतनी ही गहनता और असीमता में स्फुट होती चली जाती है। इसका पार्यन्तिक छोर यह चेतना इस विराट्ता में अपने को आत्मसात् कर के पा सकती है।

इस प्रतिपादन में प्रत्यक्षवाद-विज्ञानवाद के इस युग में शुद्ध काल्पनिकता दिखायी दे सकती है, जिसे आधुनिक पश्चिम में तत्त्वमीमांसा कहा जाता है। किन्तु इसमें कुछ काल्पनिकता नहीं है, केवल यथार्थ-दर्शी कल्पना है। कल्पना के बिना तो चेतना का कोई अर्थ ही प्रकट नहीं होता, तव यथा-अर्थता भी कैसे प्रकट होगी? 'यह भौतिक है' यह ज्ञान तक बड़ी कल्पना से लभ्य होता है, क्योंकि इस ज्ञान के लिए पहले चेतना का विषयि-विषय में उद्‌भिन्न होना और इस प्रकार विषय-कल्पना का आविर्भाव होना अपेक्षित होता है, उसके बाद दृश्य विषय-समवाय में निहित असंख्य गुणों में से एक गुण को विश्लिष्ट कर उसका 'भौतिक' इस प्रकार नामकरण अपेक्षित होता है। यह विश्लेषण और नामकरण पुनः कल्पनाश्रित व्यापार होता है। इस कल्पना को विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से यथार्थ को आवृत करने वाली कहा है। इनमें प्रत्यक्षवादी चार्वाक और उनके आधुनिक पाश्चात्य अनुज, महायानी बौद्ध और वेदांती सभी सम्मिलित हैं। किन्तु यह भ्रांति है। निश्चय ही इस अर्थ-दर्शी कल्पना को तत्त्व-दर्शी मान लेना भ्रामक हो सकता है, किन्तु तत्त्व भी कल्पना के आत्मचेतन हो कर अपने स्रोत में प्रतिष्ठित होने में ही है, कल्पना को आवरक मानकर उस कल्पनाहीनता की सिद्धि में नहीं जो असत् की, अनृत की स्थिति के तुल्य है।

अब अन्त में अनृत से ऋत की, या कहें अव्यवस्था से व्यवस्था की, उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विचार करना अस्थाने नहीं होगा। दयाजी ने यह कह कर छुट्टी पा ली है कि जड़ प्रकृति में 'अव्यवस्था' और 'व्यवस्था' शब्दों का प्रयोग निरर्थक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किन्तु द्रष्टव्य है कि वैज्ञानिक इन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं और उन वैज्ञानिकों की विचार-व्यवस्था में झंझावात और उल्कापात आदि अव्यवस्था के सूचक नहीं हैं। अब, यदि दयाजी की बात ही मानी जाय कि, व्यवस्था और अव्यवस्था का प्रकृति के जड़ नियम के अन्तर्गत कोई अर्थ नहीं बनता तो पहले तो यह देखने का प्रयत्न करना चाहिए कि आख़िर तव भी वैज्ञानिक ऐसा क्यों करते हैं, उनका इससे क्या अर्थ और अभिप्राय है? और यदि तव भी वे पाते हैं कि विज्ञान के अवधारणात्मक संस्थान के अन्तर्गत इसका वास्तव में ही कोई अर्थ नहीं बनता क्योंकि उस संस्थान के अन्तर्गत तारामंडलों के आविर्भाव से पहले की स्थिति से इन मंडलों का आविर्भाव उसी नियम से घटित होता है जिससे बाद का सब भौतिक जगद्-व्यापार घटित होता है, तब उन्हें (दयाजी को) विज्ञान के संस्थान से बाहर इसका उत्तर खोजना चाहिए था। अब इस संस्थान से बाहर आने पर यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि, उसी नियम के रहते यदि अनन्त काल से भौतिक तत्त्व जगद्रूप में विस्फुट हुए बिना पड़ा रह सकता था तो आगे अनन्त काल तक के लिए भी वह वैसे ही क्यों नहीं पड़ा रह सकता था? और फिर, क्या यह अनिवार्य था कि अस्फुटता से स्फुटता का यही रूप प्रकट होता, कोई अन्य रूप नहीं?

निश्चय ही विज्ञान की पदावली में इसका कोई अर्थ नहीं होगा। किन्तु यही क्यों आवश्यक है कि हम विज्ञान के अवधारणात्मक संस्थान तक ही सीमित रहें? इस स्थिति के ठीक अनुरूप स्थिति का आक्षेप तैत्तिरीय उपनिषद् ने भी किया है—कि पहले असत् ही था, उससे सत् की उत्पत्ति हुई, उसने अपने को स्वयं किया—क्रियान्वित किया, सर्जित किया, रचा। इसके समानान्तर, किन्तु सीमित मानवीय संदर्भ में एक स्थिति का आक्षेप पाश्चात्य अस्तित्ववादी भी करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य का संसार में अवतरण अकारण, अनिमित्तिक, निष्प्रयोजन और 'कहीं से भी नहीं' होता है, उनके शब्दों में 'हम जगत् में फेंक दिये जाते हैं।' इसका क्या अर्थ है? मनुष्य का जन्म एकदम नियत कारण-कार्यता के अधीन ही होता है और उसका मानसिक निर्माण सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से नियत होता है, इसका पता तो अस्तित्ववादियों को भी है, तब फिर वे ऐसी बात क्यों करते हैं? ऐसी बात वे इसलिए करते हैं क्योंकि मनुष्य का वरण का क्षण उसे इसी स्थिति में अवस्थित करता है, वह अपना स्वयं ही विधायक होता है। बहुत से भारतीय दर्शनों द्वारा जगत् की उत्पत्ति अविद्या से कहने और अविद्या को अनादि कहने में भी जगत् के आविर्भाव को वही 'कहीं से भी नहीं' कहना ही है। अब, अव्यवस्था से जगद्-व्यवस्था का आविर्भाव चाहे वैज्ञानिक पदावली में नियत भौतिक नियम के अनुसार हुआ ही कहा जाय किन्तु इस घटना, वस्तुस्थिति या आविर्भाव को उस पदावली तक सीमित रखने का कोई औचित्य भी है या नहीं यह तो व्यापकतर युक्ति के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है, वैज्ञानिक युक्ति के द्वारा नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अब संक्षेप में मानवीय अव्यवस्था या अनियम के सम्बन्ध में एक बार फिर।

हम प्राकृतिक जड़ व्यवस्था के विपरीत प्रकृति में भी चेतन व्यवस्था या व्यवस्थाओं की रचना करना चाहते हैं, स्वयं अपने जीवन में तो व्यवस्थाओं की रचना करते ही हैं। भौतिक प्रकृति को उपादान बनाकर उपयोगी या कला-कृतियों की रचना और वानस्पतिक तथा पाशव प्राकृतिक का उपयोगात्मक या किसी अन्य प्रयोजन-मूलक नियोजन ये सब प्रकृति में चेतन-व्यवस्थाओं की रचना के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन सबमें सिद्ध और साध्य अथवा प्रतिमा और प्रतिमान के तारतम्यतः विभक्त दो छोर रहते हैं—इसमें प्रत्येक वस्तु एक कृति होती है जिसमें कोई व्यवस्था घटित होती है और यह कृति उत्कृष्टतर संभाव्य कृतियों से न्यून होती है। सिद्ध और साध्य की यह तर-तमात्मकता ही व्यवस्था या नियम का जड़ के विपरीत चेतन होना है। यही बात मनुष्य के अपने जीवन के सम्बन्ध में भी है। वह निरन्तर अपने प्रतिमान को पाने के लिए उद्विग्न रहता है, यह बात दूसरी है कि उसका अपने प्रतिमान का बोध अभ्रान्त होता है या नहीं। इस रचनात्मक व्यवस्था के आरोप के बिना मनुष्य भी जड़ नियम से शासित एक प्राकृतिक अस्तित्व ही होता।

यहाँ विचारणीय है कि यह वास्तव और आदर्श छोरों का अन्तराय क्यों उत्पन्न होता है? इसका स्रोत प्रत्यय-साक्षात्कारी बुद्धि को कह सकते हैं। (यहां 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हम इस शब्द के भारतीय अर्थ में कर रहे हैं, 'इंटलेक्ट' के अर्थ में नहीं।) ये प्रत्यय अपनी शुद्ध सत्ता में नियम और व्यवस्था के आदर्श रूप होते हैं। किन्तु इनके उपादान या जीवन में घटित होने के लिए मनुष्य की मानसिक और जैविक प्रकृति को उनका अनुकरण करना होता है, उनकी प्रतिमा बनना होता है। बस, यहीं अव्यवस्था या अनियम की स्थिति बनती है। इन प्रत्ययों में सर्वाधार प्रत्यय स्वयं 'मनुष्यत्व' का है, शेष प्रत्यय उसीमें व्यवस्थित होते हैं। सब अव्यवस्था या अनियम का स्रोत इसी के क्रियान्वयन की असफलता में होता है। निश्चय ही अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि भी 'अव्यवस्था' के रूप में देखे जाते हैं और ईतियां कहे जाते हैं, किन्तु तब 'प्रकृति' का स्वरूप यहां भौतिक विज्ञान-सम्मत नहीं होता, बल्कि यह मनुष्य के मनोदैहिक अस्तित्व के समान सत्ता का मनोभौतिक अस्तित्व होती है जिसमें मनुष्य भी सहभागी होता है। यह दृष्टि यथार्थ है या अयथार्थ इस पर यहां विचार प्रासंगिक नहीं होगा। इस पर हमने **सत्ताविषयक अन्वीक्षा**[1] पुस्तक के प्रकृति विषयक दो अध्यायों में विस्तार से विचार किया है।

पाद टिप्पणियां

1. प्रकाशक—भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, 1987

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म-संकट

मुकुंद लाठ
ए 37-38 विश्वामित्र मार्ग श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर

पिछले लेखों में एक बात उह्य भी रही है, उभारी भी गई है : यह कि धर्म अनेक हैं। धर्म का स्वरूप ही अनेकमय है; और अनैक्य ऐसा है कि एक धर्म दूसरे धर्म को काटता है, उसका साथी नहीं होता; और उस सन्दर्भ में सत्य और अहिंसा का विरोध हम देख आये हैं। सत्य के लिए जब युद्ध अवश्यम्भावी ही नहीं, उचित ठहरने लगे—जैसा कि पिछले लेख में हमने देखा—तो सत्य और अहिंसा को 'साथी' तो नहीं ही कह सकते। वैसे मैं 'अनेक' के साथ एक और भी गहरी—तलस्पर्शी कहिये या चरमस्पर्शी—ऐसी युक्ति देना चाहूँगा : कहना चाहूँगा कि अनेक मूलतः विरोध-गर्भी होता है, इसीलिए समन्वय की बात करते हुए हम एक की ही बात करते हैं, अनेक को किसी अर्थ में हम 'नहीं है' की कोटि में रखना चाहते हैं; कहते हैं 'उपाधि है', या 'प्रतीयमान है' (लगता है, है नही), या अधिक से अधिक अवयव है, अवयवी नहीं (उसका अलग अस्तित्व नहीं, अपने आप में नहीं है), या ऐसा ही कुछ अस्वतन्त्र पदार्थ है। अनेक सचमुच अनेक हो, उसका एक एक अपने आप में स्वतन्त्र हो, तो निर्विरोध नहीं रह सकता। हम विरोध का निषेध करना चाहें तो अनेक का भी निषेध करना होगा। हम कह सकते हैं कि एक एक को अगर सचमुच स्वतन्त्र कहा जाये तो उनमें स्वातन्त्र्य का ऐसा अभेद होगा कि हर एक अपने-आप में अलग भी रहे और निर्विरोध भी रहे। पर फिर उनके बीच किसी भी सम्बन्ध की बात न हो पायेगी, किसी 'साथ' का प्रश्न नहीं उठेगा; हम किसी भी अर्थ में यह भी नहीं कह पायेंगे कि दो 'एक' किसी एक ही क्षेत्र के पदार्थ हैं।धर्म जैसे किसी 'एक' क्षेत्र विशेष या चेतना की वृत्ति या प्रवृत्ति विशेष की फिर बात नहीं हो सकती।

यही विडम्बना हमें सामने खड़ी दिखाई दे रही है। सत्य और अहिंसा एक-दूसरे का निषेध पालते हुए दिख रहे हैं। दोनों साथ नहीं रह सकते; पर दोनों ही परम धर्म हैं। दोनों पर धर्म टिका है, पर दोनों एक-दूसरे को काटते दिखते हैं, स्वरूप से ही परस्पर-विरोधी। दोनों के बीच सेतु-घटन सम्भव नहीं दिखता। साथ ही दोनों में से एक के बिना धर्म का क्षेत्र भी पूरा बनता नहीं दिखता।

सोचा जा सकता है कि आनृशंस्य की धारणा में दोनों के बीच एक सेतु बनता है। पर सहज ही प्रश्न होगा, कैसे? हम देख ही चुके हैं कि आनृशंस्य को अहिंसा और प्रभव का सम्पुट माना जा सकता है। प्रभव का अर्थ केवल हिंसा से विरति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मात्र नहीं है, प्रभव अभ्युदय है, प्राणिमात्र के लिए, या यों कहें कि जिसके केन्द्र में मनुष्य है ऐसे प्राणिलोक का सर्वतोभद्र मंगल, कल्याण, 'श्री', प्रभव इनकी साधना है; और प्रभव का अगर यह स्वरूप है तो क्या सत्य का उसमें समावेश नहीं हो जाता?

मैं नहीं समझता कि आनृशंस्य के इस व्यापक अर्थ के सम्पुट में सत्य भी आ जाता है। इसी पर विचार करता हूँ। विचार का एक आधार इन्हीं धारणाओं में निहित है जिनकी अभी ऊपर हम चर्चा कर आये हैं : स्वातन्त्र्य और अनैक्य। धर्म में दोनों ऊह्य हैं; इनके बिना धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती—धर्म का क्षेत्र ही नहीं बनता, धर्म की वृत्ति या प्रवृत्ति का कोई सार्थक तात्पर्य ही नहीं निकलता। जिस कर्म को या कर्म के औचित्य को हम धर्म का नाम देते हैं, उसके कुछ पूर्वाग्रह हैं—कुछ ऊह्य मान्यताएँ। एक ऊह्य है कर्त्ता का कर्म में स्वतन्त्र होना। दूसरा ऊह्य है कर्त्ताओं का अनैक्य। कर्म एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ता के प्रति करता है। एक ही कर्त्ता हो तो कर्म का अर्थ ही क्या होगा?

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है, और तीखा प्रश्न होगा, कि मान लीजिए एक ही कर्त्ता हो तो क्या धर्म की बात नहीं हो सकती? प्रश्नकर्त्ता को एक ही कर्त्ता के कर्म का उदाहरण भी मिल जाएगा। ईश्वर को लीजिए (या ईश्वर को न मानें तो ईश्वर की धारणा को लीजिए—हम विचार तो कल्पना ही के सहारे कर सकते हैं)। ईश्वर एक भी है, स्वतन्त्र भी और वह कर्म भी करता है—सृष्टिकर्म और उसका पालनकर्म—और जो कुछ करता है 'उचित' करता है; उसका कर्म स्वभाव से ही उचित है, नहीं तो उसे 'ईश्वर का कर्म' कहने का कोई अर्थ नहीं।

यहाँ हम धर्म में कर्त्ताओं के अनैक्य का निषेध देख सकते हैं। पर साथ ही जैसे कर्म की हम बात कर रहे हैं—जिसे मनुष्योचित कर्म कह सकते हैं—उसका भी निषेध हो जायेगा। मनुष्य के लिए इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न मनुष्य के सन्दर्भ में ही उठता है। इस सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य के साथ कर्त्ता का अनैक्य भी अयुतसिद्ध सा है; दोनों का अविनाभाव है। यों तो धर्म का प्रश्न प्राणिमात्र के प्रति हमारे आचरण में उठता है, पर कर्म का सार मनुष्य के प्रति कर्म में ही है। फिर, एक बात तो है ही : प्राणिमात्र के प्रति जो इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न उठता है वह धर्म के एक देश का ही प्रश्न होता है—अहिंसा का, सत्य का नहीं—क्योंकि उसमें जिसके प्रति कर्म किया जाता है उसे भी स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं माना जाता; मनुष्येतर प्राणी मनुष्य के प्रति जो आचरण करता है उसे पूरी तरह 'कर्म' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। क्योंकि जिसके प्रति कर्म किया जा रहा है उसे हम अपने बर्ताव के लिए दायी नहीं ठहरा सकते। धर्म में स्वातन्त्र्य परस्पर-दायित्व की अपेक्षा रखता है। यह मनुष्य में ही होता है।

दायित्व की धारणा को थोड़ा परख कर देखें। दायित्व में धर्म के दो भिन्न पक्ष आ कर मिलते हैं। एक में 'एक' प्रधान है, दूसरे में 'अनेक'। और सच पूछें तो लगता है कि दायित्वबोध में 'अनेक' का पलड़ा भारी पड़ता है। यों तो दायित्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्राणिमात्र के प्रति हो सकता है, इसके न निभाने पर पश्चात्ताप का भी बोध होता ही, और कर्त्ता किसी अर्थ में अपने आप को दण्ड का भागी मान सकता है। पर दायित्व जब किसी ऐसे कर्त्ता के प्रति हो जो आप ही की तरह दायित्वबोध रखता है तो वात कुछ और होती है। दायित्व के परस्पर-बोध की बात होती है। दण्ड की बात पश्चात्ताप तक और अपने-आप को स्वदण्ड देने तक सीमित नहीं रह जाती। हमें लगता है कि दूसरा अब किसी सार्थकभाव से हमें दण्ड देने का 'अधिकारी' बन गया है। यह बात और है कि दण्ड क्या हो, कैसा हो, प्रश्न फिर भी धर्म का ही रह जाता है। साथ ही देखिये प्रश्न तब और भी गहराने लगेगा अगर हम दो की जगह तीन कर्त्ताओं की कल्पना करें। ऐसी अवस्था में एक और दायित्व का समावेश हो जा सकता है, परिस्थिति में भी और हमारे विचार में भी। दायित्व का प्रश्न अगर दो के बीच है तो दोनों तीसरे के पास आ सकते हैं, उसे बीच में रख सकते हैं। तीसरे का यह धर्म बन जा सकता है—बल्कि आप कह सकते हैं कि बन जाना चाहिए—कि वह मध्यस्थ रह कर न्याय करे। सत्य का विचार करे। दण्ड का विधान करे। यह दायित्व धर्म को मनुष्य के कर्त्ताभाव के ही नहीं ज्ञान के भी केन्द्र में रख देता है। या 'ज्ञान' शब्द यहाँ अटपटा लगे तो हम कह सकते हैं कि यह कर्त्तव्य धर्म को मनुष्य के सम्पूर्ण बोध की नाभि पर बिठाता जान पड़ता है। यहाँ 'न्याय' और 'सत्य' का मैंने पर्याय की तरह प्रयोग किया है। वात विचार चाहती है। विचार करूँगा। पर एक और बात यहाँ मुझे उठती लगती है, उस पर पहले विचार करना चाहता हूँ।

'अनेक' के प्रत्यय को एक दूसरी दृष्टि से लेता हुआ वात बढ़ाता हूँ। कर्म का अनैक्य कर्त्ता ही में नहीं होता, कर्म में भी होता है, तभी 'किं मया कर्त्तव्यम्' की और कर्मों के बीच विवेक करने की बात उठती है। कर्म का अनेक न हो तो चयन का, उचित-अनुचित का—और यों धर्म का—प्रश्न ही नहीं उठता। पर एक अजीव बात यह है कि कर्म का अनेक धर्म में किसी 'एक' को पाने के लिए ललकता है, और विवेक के किसी एकान्त एक में अपने अनेक भाव से छुटकारा पाना चाहता है। चाहता है, अनेक हट जाये और वह एक मिल जाये जो उचित है, जो हो ही एक सकता है। नहीं तो कर्म होगा कैसे? कर्म का यह स्वभाव ही जान पड़ता है कि अनेक किसी एक में अवसित हो; नहीं तो कर्म ही सम्भव नहीं। कर्म का अनेक सम्भावना का ही अनेक हो सकता है, 'करने' का नहीं। धर्मचिन्तन के विवेक का ध्येय ही होता है कि सम्भावना का अनेक उचित एक में सिमट जाये। आप पूछ सकते हैं, क्या यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कर्म करने में भी अनेक हो? कुछ ऐसे कर्म होते ही हैं, जैसे विचारकर्म, शिल्पकर्म, जिनमें एक से अधिक सम्भावनाओं को एक-साथ बढ़ाया जा सकता है, चाहे सम्भावनाएँ एक-दूसरे से विल्कुल विपरीत दिशाओं में जाती हों। कोई कह सकता है कि बिल्कुल उसी क्षण तो एक से अधिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्भावना किसी भी कर्म में नहीं उठाई जा सकती है। पर यह बाधा काल के नियत क्रमशील होने की बाधा है, जिसमें दो क्षण एक-साथ नहीं होते। पर हम जिस 'एक साथ उठाने' की बात कर रहे हैं, उसमें प्रसंग काल का है ही नहीं। काल वहाँ आगन्तुक सी बात है। विचारकर्म और शिल्पकर्म जैसे कर्म में क्षणों का वास्तव क्रम एक उपाधि मात्र है, कर्म के मर्म से बाहर। माना, काल की नियत क्षण-परम्परा हमें इन कर्मों की अनेक सम्भावनाओं को एक क्षण में, एकसाथ, सचमुच पनपाने नहीं देती, काल ठहर पाता तो हम ऐसा कर सकते थे। पर यहाँ अनेक को एक-साथ उठाने में कोई स्वरूपगत बाधा नहीं है। क्षण-परम्परा आड़े न आती तो यह सम्भव था ही। हम कल्पना तो कर सकते हैं कि ऐसा हो। पर धर्म कहलाने वाले कर्म में मैं समझता हूँ यह कल्पना ही बाधा का शिकार हो जाती है। कर्म में हम अनेक को हटा देते हैं तभी कर्म सम्भव होता है। या बात को यों देखिए : अगर एक-साथ कई कर्मों के 'करने' की कल्पना की जाये तो फिर हमारा लोक, हमारा संसार, जिसमें हम कर्म करते हैं, उसे भी अनेक मानना पड़ेगा। सभी कर्म करने वालों के लिए एक-साथ अनेक। शिल्पकर्म और विचारकर्म के लिए कर्त्ताओं का अनैक्य अनिवार्य नहीं जान पड़ता। लेकिन धर्म का प्रश्न उठता ही इस अनैक्य के कारण है। हमने दायित्व की बात की। दायित्व होता ही अन्य के प्रति है। अपने प्रति दायित्व की बात भी की जा सकती है, पर उसमें चूक होना और दूसरे के प्रति दायित्व में चूक कर बैठना, इनमें साफ ही बड़ा अन्तर है। अपने प्रति दायित्व धर्म का नहीं, किसी और साधना का हो सकता है, धर्म का दायित्व होता ही अन्योन्मुख है। धर्म की बात उठती है तो ऐसे संसार में, जहाँ कर्म करनेवाले अनेक हैं, एकसाथ अनेक। इस संसार को अनेक मानने का क्या अर्थ हो सकता है? यह एक न हो तो कर्म का ही कोई अर्थ नहीं बनता दीखता। यही नहीं, बात को हम और वज़न दे सकते हैं। शायद हम यह भी कह कह सकते हैं कि अपने संसार को जो हम एक समझते हैं, उसका आधार ही कर्म और हमारा कर्त्ताभाव है।

'बाधा' की बात को सामने रख कर भी हम कर्म, विचार और कल्पना में एक स्वरूप-भेद उभरता देख सकते हैं। कल्पना को हम 'निर्बाध' मानते हैं, पर 'अनर्गल' नहीं। कल्पना एक संगति ढूंढती है। यह संगति अनेक हो सकती है। अगर कल्पना संगति न ढूंढे तो कह नहीं सकते कि बात बनी नहीं। यों कल्पना 'बाधित' हो सकती है, नहीं तो उसमें और अनर्गल प्रलाप में भेद नहीं होगा। यह संगति किसी कल्पना-लोक में एकसूत्रता होने का ही दूसरा नाम है। संगति एक कल्पना को एक बनाती है। पर कहना न होगा, कल्पना में परस्पर-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोध का आभास देने वाले अनेक लोक एक साथ सम्भव हैं। एक साथ अनेक संगतियाँ हो सकती हैं।

यहाँ कल्पना में मैंने अनेक में परस्पर-भेद के साथ परस्पर-विरोध के **आभास** की बात की है। वास्तव में विरोध की बात जानबूझकर नहीं की है। क्योंकि एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कल्पना-लोक दूसरे कल्पना-लोक के साथ रह सकता है, उसके होने को ही 'बाधित' नहीं कर देता। यहीं विचार कल्पना से भिन्न है। कल्पना ही की तरह विचार-लोक में अनैक्य हो सकता है। पर यहां युक्ति-तर्क का बन्धन होता है। सत्य की जिज्ञासा होती है। दो विचार-लोक परस्पर-बाधित हो सकते हैं। एक सत्य हो तो दूसरा 'असत्य' माना जा सकता है। एक से दूसरा व्याहत हो जा सकता है। अयुक्त, अनुपपन्न। एक को मान लें तो दूसरे को उसके साथ ही नहीं मान सकते। यह ठीक है कि हम दो परस्पर-बाधित विचारों को सामने रखकर साथ-साथ देख सकते हैं। पर तब हम उन्हें कुछ-कुछ कल्पना ही की कोटि में रख देते हैं। मानने-नहीं मानने की बात नहीं उठाते। और यों देखते हैं तो उनका परस्पर बाध भी हमें दिखता है। 'बाध' है ही विचार का शब्द। दो भिन्न विचारों में ही नहीं, एक विचार-परम्परा में भी विचार-सूत्रों की परस्पर-व्याहति से—बाध से—बचना आवश्यक होता है।

फिर भी एक ही विचार-कर्त्ता संगति को बाध से यथामति बचाते हुए एक साथ कई विचार परम्परायें साध सकता है। चाहे एक परम्परा दूसरे को व्याहत ही क्यों न करती हो। बस, एक ही परम्परा अपने आप में बाधित नहीं होनी चाहिये।

कर्म के क्षेत्र में भी संगति की बात की जा सकती है। धर्म की बात कर्म की संगति की ही बात है। नीति को उसका बाध कह सकते हैं। पर संगति जो भी हो, यहां कल्पना और विचार जैसा काल से निर्बाध, एक साथ कई धाराओं में बह सकने वाला अनैक्य बाधित हो जाता है।

पर क्या ऐसे संसार की हम कल्पना नहीं कर सकते जो सभी कर्म करनेवालों के लिए एक साथ अनेक हो? लगता नहीं है। ऐसी कल्पना सम्भावना की कसौटी पर खरी नहीं उतरती दीखती। प्रश्न यह उठेगा कि फिर कर्मकर्त्ता भी क्या एक है या अनेक? कर्त्तृत्व के ऐक्य के बिना कर्म का कोई अर्थ नहीं बनता—क्रियामात्र का चाहे बनता भी हो, जहाँ कर्त्तृत्व की बात ही नहीं उठती। और कर्त्तृत्व की धारणा 'एक' कहला सकने वाली कर्म-परम्परा—या कर्म-शृंखला कहिए—ऐसी किसी कड़ी की—एकसूत्रता की—अपेक्षा रखती है। एक के बाद एक कर्म करता हुआ कर्त्ता एक कड़ी बनाता है। ऐसी एक कर्म-शृंखला बनानेवाले को ही हम कर्त्ता कहते हैं। उसी के लिए फल की बात उठाते हैं। अगर कोई कर्त्ता एक साथ कई कर्म-शृंखलाएँ बनाने में सक्षम हो तो उसे हम 'एक' कर्त्ता कैसे कहेंगे? एक कर्म-परम्परा बनाने वाले को ही कर्त्ता कह सकते हैं।

ऐसे 'एक' कर्त्ताओं का अनेक होना और एक साथ अनेक होना, यही हमारा कर्मक्षेत्र है। हमारा लोक है, संसार है, जिसके अपने आप में अनेक होने पर कर्म की बात ही वृथा लगती है। ऐसे ही कर्म-लोक में फल की बात उठती है। दायित्व बनता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दायित्व की बात उठती है तो दण्ड की भी बात उठती है। दण्ड कैसा भी हो, 'प्रायश्चित्त' जैसा स्वदण्ड हो, या पर के द्वारा दिया गया दण्ड, पर दण्ड के औचित्य का प्रश्न उठता है। और दण्ड के औचित्य का प्रश्न उठना ही धर्म के स्वरूप की ओर एक विचित्र सा संकेत करता है; एक ऐसा संकेत जो धर्म में विरोध की ओर संकेत है। इसकी चर्चा आगे करूंगा।

हमने धर्मशील कर्त्ता को स्वतन्त्र भी कहा और अनेक भी। पर कर्त्ता को धर्मशील कहने में ही यह तत्त्व निहित है कि स्वतन्त्र कर्त्ता धर्मतन्त्र होता है। स्वतन्त्र इस अर्थ में होता है कि अपने विवेक से—अपने बस में, और यों अपने ही 'तन्त्र' में, अपनी स्वीकृत व्यवस्था में, रह कर—धर्म का पालन करता है। पर कर्त्ता के धर्मतन्त्र होने का क्या अर्थ है?

धर्मतन्त्र होने का एक मूलगत अर्थ है धर्म की एक ऐसी व्यवस्था का अंग होना जो कर्त्ताओं के अनैक्य को एक में बटोरती है। इस व्यवस्था के आधार को 'सत्य' भी कहा जाता है। पिछले लेख में हमने देखा कि कृष्ण ने धर्म के लिए 'सत्य' शब्द का प्रयोग किया है। धर्मयुद्ध का औचित्य सत्य के नाम पर ठहराया है। 'सत्य' यहाँ 'धर्मतन्त्र' का या धर्म की व्यवस्था का आधार है। अहिंसा की तरह सत्य भी परम धर्म है, और इस रूप में धर्मतन्त्र की नींव है, स्तम्भ है। प्रश्न होगा कि इस व्यवस्था का स्वातन्त्र्य और अनैक्य से क्या सम्बन्ध है? स्वातन्त्र्य के बिना तो धर्म की बात हो ही नहीं सकती, और हमने अभी देखा कि जिस कर्मलोक में हम धर्म की बात करते हैं उस लोक में कर्त्ताओं का भी अनैक्य है। धर्मतन्त्र इस अनैक्य को ही एकजुट रखने की 'उचित' व्यवस्था ठहरती लगती है। पर इस तन्त्र का प्रत्येक कर्त्ता के स्वतन्त्र होने से क्या सम्बन्ध हो सकता है? स्वतन्त्र कर्त्ता तो अपने लिए अपना सा स्वेच्छा या स्वैर तन्त्र बनाना चाहेगा, नहीं तो स्वतन्त्र क्या हुआ? पर कर्त्ता अगर धर्मतन्त्र है तो परतन्त्र ही कहलायेगा, स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है?

यहाँ कोई भी उत्तर दिया जाये, इतना तो स्पष्ट है कि स्वतन्त्र का अर्थ स्वैरतन्त्र नहीं हो सकता : स्वातन्त्र्य में हम जो तन्त्र बनाते हैं उसका स्वेच्छा से या इच्छा-मात्र से सम्बन्ध नहीं बन सकता।

अनेक को एक में पिरोने वाले तन्त्र का इच्छा से सम्बन्ध जोड़ने का एक विकल्प आधुनिक चिन्तन में आज बड़ा प्रभावशाली है। बल्कि यों कहना चाहिए कि यह विचार का अनतिक्रमणीय संस्कार सा बन गया है। सिद्धान्त यह है कि स्वेच्छा की सुरक्षा के लिए ही मनुष्य ने अपनी इच्छा से एक समय-बन्ध का स्वीकार किया है, ऐसी परस्पर-व्यवस्था का समझौता किया है जो हर कर्त्ता को अधिक से अधिक इच्छा के प्रयोग के लिए स्वातन्त्र्य देती है। स्वेच्छा-धारी स्वतन्त्र कर्त्ता के रूप में हम दूसरे स्वतन्त्र कर्त्ताओं के बीच रहते हैं। दूसरे की इच्छा हमारी अपनी इच्छापूर्ति में बाधक हो सकती है। जैसे हमारा कर्म दूसरे के प्रति नहीं होता है, हमारी इच्छा भी दूसरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की ओर उन्मुख रहती है। इच्छा का यह जाल टकराहट बुनता है। कर्म की समस्या ही यह है कि हमारी अलग अलग इच्छाएँ आपस में जूझती रहती हैं। स्वेच्छा-सिद्धि के इस घातक टकराव को टाल कर स्वेच्छा-सिद्धि को बचा ले निकलने के लिए मनुष्य ने एक समझौता किया है : एक मूलभूत 'आदिम' समझौता जो समाज का भी 'आदि' है, इसलिए इतिहास के बाहर है, पर वही कालातीत समझौता हमारे देश-काल में स्थित समाज को समाज भी बनाता है। समाज के देश-काल-बद्ध स्वभाव से घिरा रहने के कारण भिन्न समाजों और भिन्न कालों में उसका पालन ऊँच-नीच की सीढ़ियाँ चढ़ता-उतरता रहता है। पर यह आद्य संधि या समय-बन्ध ही मनुष्य की इच्छापूर्ति का भी साधक है। इस समय-बन्ध का हम ध्यान रखें तो अपने समाज-तन्त्र, राज्य-तन्त्र और व्यवहार-तन्त्र (कानून) को स्वेच्छा-सिद्धि का मार्ग बनाये रख सकते हैं और इसमें अधिक से अधिक ऐसा ढाँचा साध सकते हैं ताकि अधिक से अधिक स्वतन्त्र कर्त्ता अधिक से अधिक स्वेच्छापूर्ति का अवसर पा सके; अपने स्वातन्त्र्य की सिद्धि कर सकें।

तन्त्र या व्यवस्था का यह चित्र, जो आज आदर्श चित्र भी माना जाता है, उसके विषय में एक सीधा सा प्रश्न तो पहले ही उठता है: क्या यह चित्र किसी धर्म-तन्त्र का चित्र है या नीति-तन्त्र का? मुझे लगता है कि यह धर्म और नीति दोनों के बीच कहीं झूलता हुआ चित्र है। ऐसा क्यों कह रहा हूँ, कुछ उभारना चाहूँगा। चित्त में स्वार्थ और परार्थ-भाव, इन दोनों का विचित्र सा मेल है। विचित्र सा यों कि यह स्वार्थ में ही परार्थ को पकड़ना चाहता है। चित्र का भाव यह है कि हैं तो हम स्वार्थी, पर परार्थ का भी ध्यान हमें बाध्य हो कर रखना पड़ता है। हम परार्थी इसलिए हैं, बल्कि परार्थी हमें इसलिए रहना चाहिए, क्योंकि इसी में हमारा स्वार्थ है। यह बात नीति की ही हो सकती है, धर्म की नहीं।

पर स्वार्थ में परार्थ को अवसित कर देने की यह चेष्टा नितान्त स्वार्थ-प्रेरित भी नहीं हो सकती। धर्मतन्त्र का जो चित्र हमारे सामने है, उसमें एक बाज़ार की सी बात है। बनियेपन की। जिस समझौते को यहाँ व्यवस्था का आधार बनाया जा रहा है व्यापार की साझेदारी का सा समझौता है, न मानें तो दण्ड का डर है। अव अगर हम कुशल व्यापारी हों और नीति की सही चाल चलना जानते हों तो समझौते से धोखा करने से चूकना क्या ठीक होगा? मूर्खता ही होगी। कुनीति होगी। कहाँ की बुद्धिमानी होगी? चतुराई के साथ परार्थ-भाव का कपट-रूप आगे रखते हुए अगर हम स्वार्थ साध सकें तो न साधना, सच पूछिए तो अपने ही साथ धोखा होगा। क्योंकि स्वार्थ साधना और अधिक से अधिक इच्छा-पूर्ति करना, यही अगर हमारा स्वभाव है तो जहाँ तक हो सके, जैसे भी हो सके, हमें वही करना चाहिए। दण्ड हम पर लगाम लगाता है तो दण्ड को भरसक छल-वल से निहत्था कर देना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर दण्ड देने वाला ही क्यों परार्थ-भाव से सबका ध्यान रखे? आगे आने वालों की सोचे?

'समझौते' का यह स्वार्थ-प्राण चित्र पूरी तरह स्वार्थ पर आधारित नहीं हो सकता। ऐसा होता तो खोखला सा लगता; हम पर उतना छा नहीं पाता जितना कि आज छाया हुआ है। इसमें एक प्रच्छन्न परार्थ-कामना है जो इसे निरे बनियेपन से उबारती है। इसमें अपनी ही नहीं मानव मात्र की अधिक से अधिक इच्छापूर्ति की बात है। इस बात को स्वार्थ के साथ—अपनी इच्छा पूर्ति के साथ—जोड़ा गया है; उसी में निहित, सम्मिलित माना गया है। बात को कुछ ऐसे रखा गया है मानो सबकी अधिक से अधिक इच्छापूर्ति न हो, तो अपनी इच्छापूर्ति भी संशय में पड़ जायेगी। पर इस युक्ति में न कोई दम है, न इसका कोई आधार। इसका कोई आधार हो ही नहीं सकता है—उस दृष्टि में नहीं हो सकता जो मनुष्य को इच्छामय मानती है। मनुष्य मात्र की इच्छापूर्ति की साधना ऐसी व्यवस्था की साधना होगी जो आनेवाली पीढ़ियों के सुख को भी ध्यान में रखेगी—बल्कि उसी को अधिक ध्यान में रखेगी, क्योंकि जो बदलाव हम आज लायेंगे उसका फल हमें नहीं हमारी सन्तति को ही मिलेगा। पर आने वाले की परवाह करना, यह कैसा स्वार्थ हुआ? जो दूसरे को—ऐसे अनजान-अनपहचान दूसरे को जो हमारे लिए बाधक हो नहीं सकता—ऐसे दूसरे को इतना ध्यान में रखें, ऐसी इच्छा की पूर्ति को या ऐसे किसी भी मनोभाव को क्या हम स्वार्थ का या इच्छापूर्ति का नाम भी दे सकते हैं?

जिस चित्र पर हम विचार कर रहे हैं प्रकट है कि वह चित्र एक ऐसे परस्पर-भाव को ऊह्य मान कर चल रहा है जो स्वार्थ और इच्छामात्र की परिधि में नहीं ठहर सकता। मनुष्य मात्र के सुख की बात में उसी अहिंसा और प्रभव की सी ध्वनि है जिसे कृष्ण ने धर्म का मर्म कहा है। यह परस्पर भाव की बात है; ऐसे परस्पर-भाव की जिसकी कल्पना तभी हो सकती है जब 'स्व' और 'पर' में कहीं कोई गहरा अभेद हो। जिन 'अनेक' कर्त्ताओं की हमने बात की है उनमें कोई स्वभाव-सिद्ध एक-भाव हो। वास्तव में इसके बिना धर्म की बात ही नहीं हो सकती। नीति की, सौदे की ही बात हो सकती है। स्वार्थ की आपसदारी की, परार्थ की नहीं।

और, बात 'इच्छा' की पूर्ति पर भी नहीं ठहर सकती। जब हम इच्छापूर्ति की बात करते हैं तब इच्छा को स्वेच्छा—'स्व' की इच्छा—के रूप में ही देखते हैं। समझौते में 'पर' की इच्छापूर्ति की भी बात है। जैसे ही हम पर की इच्छापूर्ति की बात करने लगते हैं, बात ही बदल जाती है। 'स्वेच्छा' की बात स्पष्ट ही अटपटी हो जाती है। प्रश्न उठने लगता है कि क्या अब 'इच्छा' की बात करना भी उचित है? दूसरे की इच्छा का ध्यान इच्छा की प्रेरणा से नहीं हो सकता। अगर हम कहें कि होता है, दूसरे की इच्छापूर्ति की भी इच्छा होती ही है—तो फिर इतना तो मानना पड़ेगा कि 'इच्छा' का क्षेत्र 'स्व' तक सीमित नहीं है; उसमें एक स्व पर का द्वैत है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और फिर जब दूसरे की इच्छा-पूर्ति के लिए हम अपनी इच्छा का त्याग करें तो इसे क्या कहेंगे? चलिए 'इच्छा' ही कह दें; तो 'इच्छा' 'इच्छा' में भेद तो मानना ही पड़ेगा। 'स्वेच्छापूर्ति' और 'परेच्छापूर्ति' में इच्छा का द्विस्वभाव अनायास ही उभरता दीखता है। 'परेच्छापूर्ति' के साथ 'त्याग', 'संयम', कर्त्तव्य जैसे शब्द आ जुड़ने लगते हैं, जिनका सम्बन्ध स्वेच्छा से नहीं, स्वेच्छा के बाध से है।

एक आपत्ति हो सकती है। ऐसे कई भाव हैं—या 'भावना' कहिए—जिनके बस रहते हुए हम परेच्छा को सहज ही स्वेच्छा की कोटि में ही रखते हैं; त्याग, संयम, कर्त्तव्य जैसे किसी 'धर्म' के पालन के हेतु नहीं, बल्कि अपनेपन में ही और डूबते हुए। जैसे प्रेम में, वात्सल्य में, स्नेह में—या मोह में। यों स्वेच्छा की परिधि परेच्छा को सहज भी समेट ले सकती है; और इसके लिए इच्छा की कोई दूसरी कोटि बनाना ठीक नहीं जान पड़ता। ज़रूरी नहीं कि परेच्छा में स्वेच्छा का 'बाध' ही हो।

पर एक युक्ति पर ध्यान दें। ऊपर जिन भावों की बात की गई है उनमें सचमुच ही लगता है कि स्वेच्छा और परेच्छा में अभेद सा आ समाया है। ऐसे भाव और भी हो सकते हैं। और किसमें कितनी दूर तक और कहाँ तक स्वेच्छा-परेच्छा एक हो जाते हैं, यह अपने आप में जिज्ञासा का विषय है। पर जिस परस्पर भाव की हम यहाँ बात कर रहे हैं, वह भाव इससे कुछ अलग है। हमने ऊपर कर्त्ताओं के अनैक्य की बात की है। यह 'पर' का ही अनैक्य है। प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, मोह जैसे भावों में जिस 'पर' की हम बात करते हैं, वह अक्सर कोई दूसरा 'एक' ही होता है। पर दूसरे सचमुच अनेक हों, चुने हुए विशिष्ट, 'अपने' न हों, तो फिर क्या परेच्छा स्वेच्छा में ही सिमट सकेगी? धर्म की बात ऐसे अनैक्य में ही उठती है। तब उठती है जब प्रेम न रहे और परेच्छा स्वेच्छा का 'बाध' करने लगे और फिर भी उसका ध्यान रखना 'उचित' लगे।

ऐसा परेच्छा-बोध नीति में भी हो सकता है जैसा हम आगे कुछ विस्तार से देखेंगे। अन्तर यह है कि नीति में स्वेच्छा का बाध अधिकतर स्वेच्छापूर्ति के हेतु किया जाता है। धर्म में यह 'अहैतुक' होता है। करने के लिए ही किया जाता है। इसलिए 'इच्छा' की बात ही असंगत बैठती है। किसी और वृत्ति की बात करनी चाहिए। वैसे भी अगर हम केवल इच्छातन्त्र होते तो धर्म की ही नहीं, नीति की भी बात नहीं उठती। नीति में भी इच्छा का बाध होता ही है; उस पर लगाम लगानी पड़ती है। हमारी प्रवृत्ति में इच्छा-भिन्न दूसरी वृत्तियाँ है हीं और ये ही हमें स्वतन्त्र बनाती हैं। इच्छा हमें स्वतन्त्र नहीं करती। इच्छा के तन्त्र को हम 'पारतन्त्र्य' कहें या न कहें और कहें तो क्या कहें, यह अलग प्रश्न हो सकता है, पर इच्छातन्त्र को हम 'स्वातन्त्र्य' का तो नाम नहीं दे सकते।

फिर भी दे ही देते हैं; जब देते हैं तो एक तरह के अपोह के, व्यावृत्ति के रूप में देते हैं; जो भ्रम में डालती है। हम यों प्रयोग करते हैं : दूसरे की इच्छा के बस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में होना 'परतन्त्र' होना है, इससे बड़ा पारतन्त्र्य क्या हो सकता है? 'परतन्त्र' नहीं होना ही 'स्वतन्त्र' होना है; और यों स्वतन्त्र होने का तात्पर्य निकलता है, दूसरे की नहीं, अपनी इच्छा के वस होना। पर इच्छा के बस में होना—चाहे अपनी ही इच्छा क्यों न हो—यह स्वतन्त्र होना कैसे कहला सकता है? अगर यही स्वतन्त्र होना हो तो स्वतन्त्र होना एक गहरे, व्याकुल-करते प्रश्न के रूप में वार-बार उभर कर नहीं आता रहता। अगर हमारी प्रवृत्ति पूरी तरह इच्छामयी होती तो हम एक कार्य-कारण प्रवाह में बहते रहते, स्वतन्त्र-परतन्त्र की बात ही कहाँ उठती? सच पूछिये तो इच्छातन्त्र से मुक्ति ही स्वतन्त्र होने का द्वार है।

हम यहाँ स्वेछा और स्वातन्त्र्य में अन्तर कर रहे हैं। प्रश्न होगा, उसे कैसे आँकें, समझें? स्वेच्छातन्त्र को हम एक पुराने शब्द की अनुवृत्ति करते हुए स्वैरतन्त्र कह सकते हैं। पर स्वैरतन्त्र शब्द बनने में ही टूटता हुआ दिख जाता है : स्वैर वही है जो तन्त्र बाहर हो। थोड़ा भी विचार कर देखिए तो स्वेच्छा या स्वैरता के साथ तन्त्र शब्द जोड़ना ही अटपटा लगता है, क्योंकि तन्त्र शब्द 'व्यवस्था' के अर्थ में आता है। इच्छा और इच्छापूर्ति के कार्य-कारण प्रवाह में भी एक शृंखला या विन्यास हम देख सकते हैं, एक ऐसा 'बंध' या 'ढाँचा' जिसे विचार में स्फुट किया जा सकता हो, पर ऐसे ढाँचे को व्यवस्था का नाम देना उचित नहीं जान पड़ता। व्यवस्था, या जैसी व्यवस्था की हम बात कर रहे हैं और जिसे धर्म के सन्दर्भ में समझना चाह रहे हैं—ऐसी व्यवस्था का सम्बन्ध क्रिया से नहीं कर्म से बनता है, और तभी स्वातन्त्र्य से।

'स्वतन्त्र' को यों समझ कर देखें : अपने तन्त्र में, अपनी व्यवस्था में होना। अब व्यवस्था इच्छा की तो नहीं हो सकती—चाहे इच्छा इसका अंग हो सकती हो—पर व्यवस्था फिर है किसकी? हममें इच्छा ही नहीं और भी वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ हैं, स्वातन्त्र्य का उन्हीं से सम्बन्ध होना चाहिए। पर किससे? हम उस वृत्ति को कोई भी नाम दें—चलिए 'विवेक' कह लें—या कोई अलग नाम न दें और कहें कि हमारी मनुष्य-सुलभ प्रवृत्तियों में एक प्रवृत्ति ऐसी है जो दूसरी प्रवृत्तियों से भिन्न है, जिसे हम 'कर्म' का नाम देते हैं; 'धर्म' के नाम से किये जाने वाले विचार से जिसकी टोह लेते हैं, शास्त्र भी बनाते हैं। यों इसे अनाम रखें तो भी प्रश्न होगा कि इस वृत्ति का या प्रवृत्ति का तन्त्र से और स्व से क्या सम्बन्ध है?

प्रश्न को व्यावृत्ति के रास्ते परखें तो मुझे लगता है, कुछ सूझ-बूझ पा सकते हैं। हमने ऊपर विचार और कल्पना की बात की थी। इनका सम्बन्ध भी स्वातन्त्र्य से जोड़ा जा सकता है। और इनमें भी स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध स्वेच्छा से नहीं है। हम पूछ सकते हैं कि इनके स्वातन्त्र्य में और कर्म (या धर्म) के स्वातन्त्र्य में क्या भेद है? ऐसी व्यावृत्ति से कर्म-स्वातन्त्र्य का स्वरूप कुछ खुल सकता है। इच्छा से भिन्न किसी और आधार का सुराग मिल सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर चौखट पर ही आकर कोई करारा सा प्रहार दे जा सकता है। बात को यों रोक दे सकता है : चलिए, विचार को एक तरफ रखिए पर क्या कल्पना का भी इच्छा से सम्बन्ध नहीं है? कल्पना का तो मर्म ही इच्छा जान पड़ता है। कल्पना इच्छासार है; 'रस' या 'रञ्जन' जैसा कुछ ढूँढती है, जिसमें इच्छापूर्ति की तृप्ति और सुख होते हैं। कल्पना के लिए इच्छा साधक है, वह 'सत्य' या धर्म जैसा कुछ नहीं ढूँढती जहाँ इच्छा बाधक होती हो।

बात को यों भी रखा जा सकता है : मीमांसकों ने धर्म के विधि-निषेधों की बात करते हुए एक मुहावरे का प्रयोग किया है, 'रागतः प्राप्त'। 'वह जो सहज इच्छा से अपने आप सिद्ध है, जिसके लिए 'चेष्टा' नहीं करनी पड़ती, जैसी कि धर्म में करनी पड़ती है।' धर्म और विचार को हम 'आयास सिद्ध' मानें भी तो कल्पना को तो रागतः प्राप्त कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती लगती। हाँ, यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि बात अगर आयास-अनायास या सहज-असहज की है तो फिर यह भी ध्यान में रखना होगा कि विचार और धर्म में भी आयास से मुक्ति को, 'सहज' को बड़ा मोल दिया जाता है। और यों भी देखें : धर्म और विचार अगर हमारी प्रवृत्तियाँ हैं तो किसी अर्थ में ये भी 'रागतः प्राप्त' हैं ही। यह माना। पर इतना मान लेने पर रागतः प्राप्ति का जो स्वभाव-सम्बन्ध कल्पना से बैठता है वह धर्म और विचार से नहीं बैठता प्रतीत होता। धर्म में इच्छा बाधक हो सकती है। विचार में तो उसका बाधक होना स्वतःसिद्ध सा लगता है, पर कल्पना में उसकी गति विपरीत है।

लेख के आरम्भ में हम इस बात को उभार आये हैं कि कल्पना और विचार दोनों में हम एक 'संगति' ढूँढते हैं। धर्म की भी साधना सदृश है। संगति की तलाश वहाँ भी होती है। कल्पना, विचार और धर्म को हम व्यावृत्ति के रास्ते समझना चाहें तो यह देखना काम का हो सकता है कि इनकी संगतियों में क्या भेद है; इनके साधक-बाधक क्या हैं? एक बात तो पहले ही सामने आ जाती है : विचार हो या धर्म या कल्पना, सच पूछिए तो इनमें किसी में भी संगति-साधना इच्छा या स्वेच्छा को आधार नहीं बनाती। इच्छा तीनों ही संगतियों में बाधक हो सकती है। तीनों में हम 'स्वतन्त्र' तो होते हैं पर 'स्वैर' नहीं। तीनों में हम एक व्यवस्था ढूँढते हैं, जो इच्छा की बात नहीं होती। हाँ, चलिए, यह सच भी हो कि हमारे स्वभाव का जो इच्छामय अंग (या 'कोष') है वही हमें कल्पनाशील भी बनाता है, नहीं तो हममें वह प्रवृत्ति नहीं होती—इस बात को मान भी लें तो भी इच्छा को हम कल्पना का कारण ही कह सकेंगे, कल्पना की संगतियों का आधार नहीं। संगति वहाँ भी रागतः प्राप्त नहीं होती है। संगतियों की सम्भावनाएँ चाहे विचार और धर्म से कहीं अधिक उर्वर हों, पर वे स्वेच्छा सिद्ध नहीं होतीं। इच्छा और कल्पना के एक और सम्बन्ध की बात की गई है। आलंकारिकों में जो नव्य-नैयायिक हो गये हैं, उनमें से कुछ कहते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

थे कि इच्छा के सहारे हम असत्य वचन को भी सत्य रूप में देख सकते हैं, अगर इसमें कल्पना को रस या चमत्कार जैसा कुछ मिलता हो। मुखचन्द्र में 'मुख और चन्द्र का जो बाधित अभेद है उसे इच्छा साध देती है। हम चाहते हैं कि अभेद का बोध हो, और यह इच्छा बाध को दूर कर देती है। इच्छा यों भी कल्पना में साधक हो सकती है। पर देखने की बात है कि यहां लक्ष्य सत्य नहीं रस है और इस लक्ष्य में इच्छा साधक है। सत्य या धर्म में उसके यों साधक होने की बात बाधित ही लगती है।

विचार, कल्पना और धर्म के भेद के स्वरूप को कुछ और भी विवरण के साथ उभारना चाहें तो तीनों के अपने-अपने लक्षणों की गहराई से थाह लेनी होगी। पर यह जिज्ञासा यहाँ प्रसंग बाहर लग रही है। प्रश्न अपने आप में गहरा और जटिल है। कुछ भेद हम ले चुके हैं, जो मुझे यहाँ हमारे काम का लगा। पर स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में एक भेद जो हम उभार आये हैं उस पर कुछ और कहना यहाँ अनुकूल होगा। हमने ऊपर देखा कि कल्पना और विचार में यह सम्भव है कि एक ही साथ विभिन्न निर्मितियाँ बनाई जा सकें। और इसी कारण यह भी सम्भव है कि कल्पना या विचार को एक दिशा में बढ़ा कर भी हम वपिस मुड़ आयें और दूसरी दिशा में चल पड़ें। पर कर्म में यह सम्भव नहीं। इस सम्भावना में एक बड़ा बाध है, कर्त्ताओं का अनैक्य। विचार और कल्पना में यह बाध नहीं होता, क्योंकि कल्पना या विचार की संगतियाँ स्वयंभू सी होती हैं। स्वप्रतिष्ठ। अपने आप में पर्याप्त। कर्त्ताओं के अनैक्य से उनके बनने न बनने पर कोई असर नहीं पड़ता दीखता है। पर कर्म होता ही ऐसे क्षेत्र में है जहाँ अनेक कर्त्ता एक-दूसरे के साथ, एक-दूसरे के प्रति कर्म करते हैं। ऐसे में किसी एक कर्त्ता के लिए सम्भव नहीं कि अनेक सम्भावनाओं का एक साथ पोषण करते हुए किये हुए कर्म को वापिस समेट ले।

इससे कर्म का स्वातन्त्र्य भी कुछ और पहेली सा हो जाता है। कल्पना और विचार में माना कि संगति किसी स्व की इच्छा के अधीन नहीं होती; फिर भी उनमें कोई भी 'स्व' एक साथ कई दिशाओं की सार्थक यात्रा कर सकता है। पर कर्म में यहाँ बाध है। कर्म में हम जिधर चल पड़ें वहां से कहीं और की दिशा तो ले सकते हैं, पर वापिस नहीं लौट सकते।

इससे एक प्रश्न उठता है। कर्म में हम जो कर बैठें उसे बदल नहीं सकते तो संगति कैसे साध पाते हैं? क्या साधने का कुछ अर्थ बनता भी है? फिर एक बात और है, संगति की साधना एक की साधना है पर कर्म में तो अनेक का अनिवार्य गुँथाव है। कइयों का एक साथ स्वतन्त्र-भाव से कुछ साधना, इसका क्या अर्थ बनता है?

इस प्रश्न के विचार में यहाँ अभी नहीं जाऊँगा, पर संक्षेप में—और इसलिए शायद अधूरी सी—एक बात कहना चाहूँगा। कर्म में हम ('मैं' नहीं 'हम') जो साधते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं उसी को 'संस्कृति' और 'पुरुषार्थ' जैसे नाम देते हैं। 'अभ्युदय', या श्री कृष्ण के शब्दों में 'प्रभव'। यह परस्पर-भाव में किये जाते कर्म का उद्देश्य है। उसका आधार है धर्म। इस साधना में संगति की साधना तो होती ही है।

पर स्वतन्त्र तो हम व्यक्ति रूप में हैं। इस स्वातन्त्र्य का क्या अर्थ? और विशेष कर कर्म के स्वातन्त्र्य का क्या अर्थ? यहाँ कर्म के स्वातन्त्र्य पर आने से पहले 'स्वतन्त्र' की धारणा पर ही विचार करें। एक तरह से देखें तो धारणा में एक विरोध झाँकता लगता है। कारण यह है कि 'स्वतन्त्र' में 'स्व' और 'तन्त्र' का सम्बन्ध विषम जान पड़ता है। 'स्व' और 'तन्त्र' में एक विरोध है, या विरोध का आभास तो है ही। कोई भी 'तन्त्र' किसी 'स्व' का नहीं हो सकता। इच्छा स्व की किस अर्थ में होती है, प्रश्न उठाया जा सकता है; पर इच्छा को हम स्व के साथ, व्यक्ति विशेष के साथ, ही जोड़ते हैं। पर तन्त्र के लिए तो 'स्व' स्वरूप से ही बाधक लगता है। तन्त्र के पीछे एक तत्त्व या आधार होता है जो सामान्य, सार्वजनीन न हो तो तन्त्र ही क्या? तन्त्र किसी विशेष स्व से बँध जाये तो लगता है उसका स्वरूप ही बाधित हो जायेगा। 'तन्त्र'—या व्यवस्था—कहने का ही कोई अर्थ नहीं रहेगा।

पहले विचार में यही प्रतीत होता है, पर आगे हम 'स्व-तन्त्र' का व्यष्टि से भी सम्बन्ध साधेंगे।

अगर किसी विशेष 'स्व' के स्वतन्त्र होने का कोई अर्थ नहीं बनता तो स्वतन्त्रता की बात ही क्या हुई? और उसके बिना धर्म ही नहीं विचार, और आप कह सकते हैं, कल्पना भी—इनकी वृत्ति या इनकी ओर प्रवृत्ति का ही क्या अर्थ हुआ? फिर तो हम 'तन्त्र' की ही बात करें, उसके साथ 'स्व' को क्यों जोड़ रहे हैं? और 'स्व' को न जोड़ें तो किसी भी तन्त्र से 'मेरा' क्या सम्बन्ध या सरोकार? मुझे लगता है कि स्वेच्छा और स्वतन्त्रता में एक और अन्तर की ओर ध्यान दें तो कुछ बात आगे बढ़ती दीखतीं है। जो प्रश्न उठा है टेढ़ा है, और हमें 'स्व' के विशेष स्वभाव का लक्षण करने की ओर ललकार रहा है। पर उधर हम नहीं बढ़ेंगे। किसी परम 'स्व' की खोज नहीं करेंगे। यों भी किसी एक 'परम' विशिष्ट की खोज विचार को लाचार सा कर देती है। फिर हमें तो एक नहीं, अनेक, झुण्ड के झुण्ड 'परम' विशिष्ट चाहियें; ये कहाँ मिलेंगे? पर स्वेच्छा और स्वतन्त्रता के भेद पर ध्यान दें तो शायद यह बात भी कुछ आगे बढ़ निकले।

मैं समझता हूँ, स्वेच्छा एक स्थिति है, जब कि स्वतन्त्रता एक खोज है। इच्छा में हम होते हैं; 'स्वतन्त्रता में होना चाहते हैं। इच्छा सिद्ध है; 'स्वतन्त्रता साध्य। पुरुषार्थ। हम कहते हैं, हम स्वतन्त्र हैं; हम यह भी कहते हैं कि हममें इच्छा है। सुनने में दोनों बातें एक सी लगती हैं : दोनों का ही इंगित किसी भाव या स्थिति की ओर जान पड़ता है। पर दोनों में भेद है : तत्त्व का भेद। इच्छा की ओर उंगली उठा कर हम बता सकते हैं, हमारी अमुक इच्छा है। स्वतन्त्रता वैसी कोई 'चीज़' नहीं। प्रश्न हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता है स्वतन्त्र होना इच्छा की स्थिति नहीं है तो स्वतन्त्रता की इच्छा क्या है? इसे इच्छा से मुक्ति की इच्छा भी कहें तो भी कहलाती तो इच्छा ही है। पर स्पष्ट ही यह प्रयोग का भ्रम है। इसे दूर करने के लिए या तो हमें इच्छा के प्रकार-भेद बनाने पड़ेंगे, और प्रकार-भेद ही नहीं, कोटि-भेद बनाने पड़ जायेंगे। नहीं तो प्रवृत्ति मात्र इच्छा हो जायेगी; फिर प्रवृत्ति-भेद कैसे करेंगे? हम तो मनुष्य को स्वतन्त्र कहना चाहते हैं, इच्छामय नहीं। आज तो संविधान भी दावे के साथ यह कह देता है कि हम जनमते ही स्वतन्त्र हैं। जनमते तो हम इच्छा के साथ भी हैं; पर इसके लिए किसी संविधान या विधान की आवश्यकता नहीं होती। स्वतन्त्रता के लिए क्यों होती है? स्पष्ट ही इच्छा के होने में और स्वतन्त्रता के होने में अन्तर है। स्वतन्त्रता में 'होना चाहिए' का भाव इसी से प्रकट है कि उसका विधान या 'संविधान' किया जा रहा है।

तो आदर्श है स्वतन्त्रता, और किसी समाज के संविधान में जब ऐसे आदर्श का विधान हो, उसे 'है' का दर्जा दिया जा रहा हो तो अर्थ यही हो सकता है कि हम परस्पर-भाव से स्वतन्त्रता के आदर्श को उज्ज्वल रखें यह हमारा दायित्व है। यह इच्छा की बात नहीं हो सकती।

पर क्या 'स्थिति' की भी बात नहीं हो सकती? नहीं तो कानून का अंग कैसे बनेगी? फिर अभी जो मैंने कहा, स्वतन्त्रता स्थिति नहीं खोज है, उसका क्या आशय ठहरता है? किसी भी खोज के लिए खोजने वाला तो चाहिए और खोजने वाला 'स्थितिमान' ही तो कहलायेगा? माना कि खोजना एक गतिमान व्यापार है, एक कर्म; लेकिन खोजने वाला भी अगर एक व्यापार हो तो अर्थ ही क्या बना?

अर्थ यह बनता है कि स्वतन्त्रता एक प्रवृत्ति है। व्यापृत होना ही उसका प्राण है। यह ठीक है कि किसी अर्थ में हम स्वतन्त्रता की 'स्थिति' में न हों तो स्वतन्त्रता का व्यापार भी निरर्थक सी बात होगी। इसी हेतु हम विवेक जैसी वृत्ति की बात करते हैं जो स्वतन्त्रता जैसे व्यापार में प्रवृत्त होती है। हम यहाँ चाहें तो इच्छा को भी वृत्ति कह सकते हैं और उसकी अपनी अलग प्रवृत्ति की बात कर सकते हैं। यों एक को 'स्थिति' और एक को 'खोज' कहने जैसी विचित्र कोटियों से बच जायेंगे।

यह रास्ता अपनाया जा सकता है। यों हम 'स्थिति', 'गति' जैसे लाक्षणिक प्रयोगों से भी बच जायेंगे। तो चलिए दोनों को प्रवृत्ति विशेष कह दीजिये। पर विचार का उद्देश्य यहाँ केवल कोटियाँ बनाने का और कोटियों को सुथरा-सँवरा करने का नहीं है। चेष्टा यह देखने की है कि स्वेच्छा और स्वतन्त्रता में जो साम्य सा दिखता है, वह कैसा वैषम्य छुपाये है। उस वैषम्य को उभारने के लिए ही मैं 'स्थिति' और 'खोज' जैसे पदों की ओर गया। बात को और तरह से भी कहा जा सकता है, शायद और अच्छा कहा जा सकता है। मैं तो यही उभारना चाहता हूँ कि इस भेद पर सच-मुच कुछ कहने की बात है ज़रूर। हमारा अनुभव ही हमें कहता है—अभी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी कह रहा है—कि इच्छा की जैसी स्थिति हम 'स्व' को पाते हं और यह भी पाते हैं कि ऐसे किसी तन्त्र को पा सकें जो उचित हो कल्याणमय हो। ऐसे तन्त्र की स्थिति में 'स्व' को पाते नहीं है। पाने की ललक रहती है। अक्सर व्यवस्था हम पर ऊपर से ही थोपी जाती है। हम उसे बदलना चाहते हैं। अब इसे 'इच्छा' कहिये या कुछ और, फर्क नहीं पड़ता; पर यह इच्छा दूसरी इच्छाओं से भिन्न है। भेद करने के लिये इसे विवेक कह देते हैं।

अब तक की बात कुछ टेढ़ी बाँकी चली है, पर इतना तो प्रकट है कि 'स्वतन्त्र' का 'स्व' किसी 'मैं' का स्व नहीं हो सकता। 'स्व' के अनैक्य में पिरोया हुआ ही 'स्व' हो सकता है।

हमने ऊपर देखा कि यह 'स्व' एक समझौते का 'स्व' माना जा सकता है। पर ऐसा मानने पर 'स्वतन्त्रता' की बात 'स्वेच्छा' के ही पसारे को बढ़ाने की बात होगी। हाँ, इच्छा से भिन्न भी किसी वृत्ति को समझौते के लिए मानना ज़रूरी लगता है; ऐसी वृत्ति जिस वृत्ति में 'नीति' की सँभली हुई चाल चल सकने का सामर्थ्य हो। इस वृत्ति को हम बुद्धि कह सकते हैं। 'बनिया बुद्धि' में जैसा 'बुद्धि' का प्रयोग है, कुछ वैसी बुद्धि। पर साथ ही एक और बात स्फुट है। समझौते के सिद्धान्त में 'स्व' का अनेक एक एक में बिखरा हुआ ही रह सकता है, हर एक अपनी अपनी अच्छा साधता हुआ, उसमें कोई भीतर का अभेद नहीं उभर कर आता। और यों जो तन्त्र बनता है, वह 'अहिंसा', 'प्रभव', 'कल्याण', 'अभ्युदय' आदि की बात करे यह असंगत ही लगता है।

पर 'समझौते' के सिवा और भी दृष्टियाँ हैं जो तन्त्र को 'नीति' से नहीं बाँधतीं, बहुत प्राचीन काल से 'धर्म' के साथ जोड़ती हैं। ऐसी ही एक दृष्टि हमारे यहाँ है। उसको **महाभारत** के आधार पर खड़ा करने की चेष्टा करता हूँ। इस दृष्टि में तन्त्र का जो चित्र बनता है वह कुछ कुछ ऊपर ऊपर से समझौता वाले चित्र जैसा लग सकता है और उसी जैसा अक्सर कहा भी जाता है। एक कारण यह भी है कि हम अपनी बात को जब तक पश्चिम की छाया में न देखें, हमें बात ही नहीं दिखती; पर यह 'नीति' का नहीं 'धर्म' का चित्र है। 'स्वतन्त्रता' की बात करता है, 'स्वेच्छा' की नहीं।

आज कलियुग है। धर्म केवल एक पाँव पर खड़ा है, इसलिए उखड़ा ही है, खड़ा नहीं। जिसके चार पाँव हों, एक पर कैसे खड़ा रह सकता है? इसीलिए आज हम धर्म को नीति में उतार रख देने की बात करते हैं। पर सत् युग में ऐसा नहीं था। तब धर्म चारों पाँवों पर खड़ा था। और तब लोगों में एक स्वभाव-सिद्ध परस्पर भाव था। मनुष्य सहज ही एक-दूसरे का भावन करते थे। ('भावन' में यहाँ 'प्रभव' की भी ध्वनि साफ है)। बात को **महाभारत** के शब्दों में लें—वैसे इस तरह की बात अन्यत्र पुराणों में भी मिल सकती है। कथन भीष्म का है (राजधर्मानुशासन पर्व, शांति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर्व में 59वां अध्याय, गीता प्रेस संस्करण) और वे इस बात पर विचार कर रहे हैं कि मनुष्य को राज्यतन्त्र की, राजा की, दण्ड की, इन बातों की आवश्यकता ही क्यों हुई, यह तो मनुष्य-भाव में जो कुछ भद्र है, उस की विभीषिका है।

अब जो कलि है, उसके विपरीत, भीष्म एक आद्य, धर्ममयी स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं "न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः, धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति च परस्परम्।" न राज्य था न राजा, न दण्ड था न दण्ड देने वाला, धर्म से ही सारी प्रजा एक दूसरे की रक्षा करती थी। पर फिर यह हुआ "पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत। खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्"— धर्म से एक-दूसरे का पालन करते हुए लोग थक गये और मोह के शिकार हो गये। "ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ, प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्" — यों मोह के वश जाने पर मनुष्य की 'प्रपित्ति' भ्रम में खोति गई और धर्म नष्ट हो गया। और तब वे स्वार्थी हो गये। स्वेच्छाशील लाभ के वशीभूत हो गये, इच्छा के मोह से विवेक आच्छन्न हो गया : "नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा, लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरत सत्तम।" लोग कामना और इच्छा के वश हो गये; उनकी प्रवृत्ति धर्मतः न हो कर रागतः हो गई" अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः / कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥ तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत् / रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये —युधिष्ठिर (लोभवश) जो नहीं मिला है, उसकी चिन्ता करते हुए मनुष्य में काम जाग उठा। कामवश हो जाने पर उनमें राग आ पैठा। और युधिष्ठिर, सुनो, जो रागवश होता है, उसे क्या करना चाहिए क्या नहीं, इसका कोई ज्ञान नहीं होता।

इसके बाद ही राजधर्म, राज्य और राजा की सृष्टि हुई। दण्ड प्रयोग में आया।

दीख ही रहा है, **महाभारत** का यह चित्र समझौते वाले चित्र से बिल्कुल अलग है। यह परस्पर-भाव का, परार्थ-भाव का चित्र है। स्वार्थ इसमें आगन्तुक है। विस्वभाव। कर्म मनुष्य का स्वभाव है, उससे च्युति ही स्वेच्छा में स्थिति है। समझौते वाले चित्र की तरह यह चित्र भी एक 'आदर्श' चित्र है। एक 'काष्ठा' की, एक 'परम' स्थिति का वर्णन है जो विचार की बात है। बात मानो इतिहास की है, पर किसी सचमुच के वृत्तान्त का यहाँ कोई चित्रण नहीं है। समझौते वाले चित्र ही की तरह मनुष्य और उसके अनैक्य में जो अनुस्यूत ऐक्य है उसके 'आद्य'—'आधारभूत'—स्वरूप को उभारने की चेष्टा है। पर यहाँ स्वार्थ को नहीं परार्थ-भाव को मनुष्य के स्वभाव का ही अंग कहा गया है। स्वार्थ-भाव को तो उसकी च्युति के रूप में आंका गया है। सच पूछिए तो इसके बिना समझौते की भी बात बेमानी है।

मनुष्य यहाँ स्वभाव से धर्मतन्त्र है, स्वेच्छा-तन्त्र तब होता है जब धर्म से 'खिन्न' हो जाता है। इच्छा की ओर फिसल जाता है। जब उसमें वह जागरूक भाव—वह 'विवेक'—नहीं रहता, जो धर्म के लिए आवश्यक है। इस भाव से हटना ही मोह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की स्थिति है—जागरूक भाव का जड़ हो जाना स्वरूप-च्युति। और तब हम इच्छा मात्र के विवश प्रवाह में अंधे से बहते चले जाते हैं।

फिर भी एक बात यहाँ लक्ष्य करने की यह है कि, इस चित्र का मनुष्य धर्ममय और इच्छामय दोनों है और उसकी इच्छा मोहरूपी है। अगर उसमें इच्छा का अभाव होता तो उसके परस्पर-भाव में गांठ आती ही नहीं। यह मोह का परिणाम हो सकता था। अभिनव गुप्त के शब्दों में वह 'मानुष्येण उपहतः' है—स्वार्थ-परार्थ के बीच उलझा हुआ।[1] वह अपने को कलियुगी ही पाता है। सत् युगी होना तो आदर्श है, पुरुषार्थ है, खोज है। पर आदर्श तो दिगंत की ओर ही दृष्टि रखता है, वह सत् युग जैसा ही कुछ हो सकता है; इच्छामय होना क्या आदर्श होगा? लेकिन साथ ही यह भी मानना होगा कि मनुष्य का जो आदर्श है किसी अर्थ में मनुष्य सचमुच वही है, चाहे लगता कुछ और हो, नहीं तो आदर्श का भी क्या अर्थ होगा? इसी होने के लिए ऊपर हमने 'स्थिति' से भिन्न 'खोज' या 'प्रवृत्ति' पदों का प्रयोग किया। इच्छा का 'होना' स्पष्ट ही ऐसा नहीं है।

अब, इतना कहने के वाद, स्वातन्त्र्य के लिए हम कह सकते हैं कि मनुष्य का धर्मतन्त्र होना ही उसका 'स्व' तन्त्र होना है—परार्थ के 'स्व' से प्रेरित होना, क्योंकि यही उसका सच्चा स्वभाव है। स्वातन्त्र्य की यही प्रेरणा धर्म की बीज है। यह बीज हमारा 'स्व' है, फिर भी यह स्वेच्छा की तरह अनायास नहीं है, आयास चाहता है, इसीलिए भीष्म ने कहा है कि धर्म से एक-दूसरे का पालन करते हुए लोग थक गये, खिन्न हो गये। धर्म 'स्व-वश' में होने की साधना चाहता है ('तन्त्र' में 'वश' की भी ध्वनि है ही)। कृष्ण ने इसे ही 'आत्मवान' होना कहा है। 'स्वतन्त्र' का अर्थ बंध-मुक्ति भी होता है। 'आत्मवान' होने का अर्थ स्पष्ट ही इच्छा-तन्त्र से मुक्ति है। सच पूछें तो यों कहना चाहिए कि 'इच्छा के अतन्त्र से मुक्ति है'—क्योंकि 'तन्त्र' अगर व्यवस्था का नाम है तो उसका इच्छा से सम्बन्ध ही नहीं ठहरता।

पर यह व्यवस्था क्या है? एक विचार हमारी बातों में आ चुका है : यह व्यवस्था सिद्ध नहीं, साध्य है। पर साध्य में कुछ सिद्ध होना ऊह्य है; तो साधक ऊह्य है। सच पूछें तो जो 'सिद्ध है' एक वृत्ति है, या प्रवृत्ति है। इसका मूल या आधार या 'बीज' एक परस्पर-भाव है जो मनुष्य के अनैक्य को एकसूत्रता देता है। हमने इसे विवेक कहा। भीष्म ने इसे 'धर्म' ही कहा है—यह कहते हुए कि सत् युग में धर्म से प्रजा एक-दूसरे का पालन करती थी। 'धर्म' यहाँ उपयुक्त है, क्योंकि इस परस्पर-भाव के बिना धर्म की बात ही नहीं हो सकती। या यों कहें कि यह परस्पर भाव ही धर्म का आधार है। पर भीष्म के कथन से एक और बात उभरती है। 'धर्म' का 'पालन' करना पड़ता है : यह सिद्ध ही नहीं, साध्य है। क्योंकि यह एक 'प्रवृत्ति' है। जब हम अहिंसा, प्रभव, अभ्युदय, या एक शब्द में कहें तो 'आनृशंस्य' की बात करते हैं तो परस्पर-भाव के 'साध्य' होने की ही बात करते हैं। ये आदर्श हैं जो बीज रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से हमारे 'स्व' में हैं, पर जो पालन और विरोधी प्रवृत्तियों से संघर्ष चाहते हैं, उत्कर्ष चाहते हैं, पल्लवन चाहते हैं। यत्नशील विवेक चाहते हैं। विवेक ही नहीं प्रतिभा चाहते हैं। क्योंकि आनृशंस्य क्या हो? अभ्युदय क्या हो? यह प्रज्ञा के उन्मेष की खोज है, कोई पूर्वसिद्ध पदार्थ नहीं। मनुष्य के इतिहास को, उसकी संस्कृति को इस साधना के रूप में भी देखा जा सकता है। देखा भी गया है इसीलिए धर्म को 'खोज' कह सकते हैं।

एक और बात यहाँ जोड़ी जा सकती है। आनृशंस्य, प्रभव, ये समष्टि-धर्म हैं: इनका सम्बन्ध समूह, अनैक्य के साथ है। धर्म मात्र का ही समूह-धर्म होना स्वाभाविक है। पर ऐसे धर्मों की भी बात की जा सकती है, और परस्पर-भाव के ही सम्बन्ध में ही की जा सकती है, जिनका सम्बन्ध समष्टि से नहीं व्यष्टि से है पर जो व्यष्टि और समष्टि के बीच धर्म के सूत्र हैं : ऐसे धर्म व्यष्टि के कुछ गुण हैं, मैत्री, करुणा, अनुकम्पा पर-दुःख दुःखित्व . . . ये न हों तो किसी धर्ममय परस्पर-भाव की भी बात नहीं की जा सकती। मैंने ऊपर दायित्व की बात की थी। उसका सम्बन्ध परस्पर-भाव के एक दूसरे पक्ष से है, जिसकी बात आगे करता हूँ।

आगे बढ़ने से पहले एक बात और। करुणा, मैत्री . . . इनके बारे में कुछ और यहाँ कहना उचित होगा। करुणा, मैत्री . . . ये व्यष्टि-धर्म हैं, पर इनका मर्म व्यष्टि और व्यष्टि के बीच अभेद में है। इसलिए इन्हें परस्पर-भाव का बीज और आनृशंस्य का आधार कहा जा सकता है। इसे ध्यान में रखें तो स्वातन्त्र्य की बात यहाँ नये सिरे से उठा सकते हैं। एक नये प्रश्न के साथ। हमने यह देखा कि कर्म में स्वातन्त्र्य को 'तन्त्र' से ही सम्बन्ध अधिक है। वह भी ऐसा तन्त्र जिसमें 'स्व' का नहीं 'पर' का ही ज़ोर है : तन्त्र स्व-अर्थ नहीं पर-अर्थ होकर ही सार्थक है। और फिर तन्त्र विचार और कल्पना की तरह धर्म की अनेकानेक सहस्फूर्त सम्भावनाओं के वैविध्य को लेकर भी नहीं है। स्वतन्त्र होने का सम्बन्ध जहाँ तक किसी निर्बंध, उन्मुक्त वैयक्तिकता से है, कर्म में उसका बाध ही दिखाई देता है। क्योंकि वैयक्तिकता का सम्बन्ध कहीं स्वेच्छा से भी है ही।

पर मैं समझता हूँ कि धर्म में स्वेच्छा की या स्वैर-भाव की न सही 'स्वच्छन्द' होने की फिर भी बात की जा सकती है। एक गहरे अर्थ में की जा सकती है। हम यह देख चुके हैं कि कर्म में ही नहीं कल्पना और विचार में भी 'स्वतन्त्र' होने का सम्बन्ध 'स्वेच्छा' से नहीं है। सम्बन्ध वहां भी तन्त्र से है, हालाँकि सम्भावनाओं के अनेक द्वार एक साथ अपावृत रहते हैं, जिनमें 'स्व' निर्बंध संचार कर सकता है। इसे हम 'स्वाच्छन्द्य' कह सकते हैं। छन्द में लय का ऐसा 'तन्त्र' होता है जिसमें व्यवस्था तो होती है, पर व्यवस्था के साथ वैविध्य भी होता है। छन्द स्वभाव से विविध है। वहाँ बन्धन होता है, पर बन्धन के साथ ही एक अनायास प्रवाह होता है। ऐसा प्रवाह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिसमें 'स्व' उन्मुक्त बह सकता है। विवेक के साथ बह सकता है। अनुभूति बन्धन की नहीं, मुक्ति की ही होती है।

मैंने धर्म के जिस परस्पर-भाव की अभी बात की इसे आनृशंस्य के साथ जोड़ा है। इसमें विवेक की ही नहीं, प्रतिभा की भी बात की है। प्रतिभा की बात करें तो उसे स्वातन्त्र्य से कैसे हटा सकते हैं? प्रतिभा निर्बंध नवोन्मेष है, सृजन है; स्वातन्त्र्य के बिना उसकी बात ही क्या? लेकिन फिर धर्म में उसका स्थान कहाँ? पर एक गहरे स्थान की भी झलक अभी अभी हम देख आये हैं। हमने परस्पर भाव का सम्बन्ध मैत्री, करुणा जैसे भावों से जोड़ा है और इनका आधार व्यष्टि है। ये समष्टि की ओर उन्मुख होते हैं। ये व्यष्टि को समष्टि से जोड़ते हैं। धर्म में भाव की बात करने से हम कतराते हैं। और भाव के साथ विवेक का अभाव और रागतः प्राप्ति का सम्बन्ध, ये सहज भी जान पड़ते हैं। पर मनुष्य में भाव विविध और बहुमुखी है। भाव को हटा कर भी धर्म की बात करना कठिन और असंगत जान पड़ता है, जैसा हम आगे के विमर्श में और साफ देखेंगे! पिछले एक लेख में 'वासना' की बात करते हुए हमने रस-बोध को दो भागों में बांटा था : प्रवृत्तिमुखी रस और निवृत्तिमुखी रस। प्रवृत्तिमुखी रसों को रस-बोध की नींव ठहराते हुए हमने उन्हें मनुष्य के स्वभाव, उसकी एषणा-'वासना' का आधार बनाया था। रसबोध में भाव का सम्बन्ध स्फुट है। पर उस सन्दर्भ में जिन भावों की बात होती है, उनसे धर्म के जिस परस्पर-भाव की हम बात कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध स्फुट नहीं है। स्पष्ट ही भाव भाव में विवेक करने की आवश्यकता है। मैत्री, करुणा, अनुकम्पा, सहानुभूति . . . ये ऐसे भाव हैं जो स्नेह, वात्सल्य, रति आदि से भिन्न हैं। ये 'स्व' के अंग ही नहीं होते, स्व के साध्य भी होते हैं। हम इनमें होते भी हैं इन्हें साधते भी हैं। किसी भी साधना की तरह इस साधना का भी सृजन से, प्रतिभा से सम्बन्ध होता है। ऐसी किसी भी साधना का ध्येय ही है कि निर्बंध भाव से, सहज होकर अपनी तरह से, अपनी गति से इनमें बढ़ पाना। यही स्वच्छन्द होना है। विभिन्न धर्मशील लोगों में इस स्वच्छन्द भाव की 'स्व'-गति देखी भी जा सकती है। एक तो इसी बात में कि परस्पर भाव के भिन्न धर्मों मैत्री, करुणा, अनुकम्पा आदि में भेद है ये एक ही भाव के नाम-भेद नहीं हैं। भेद क्या है? यह अपने आप में एक पेठ का प्रश्न है, जिस पर धर्म के सन्दर्भ में विचार नहीं हुआ है, पर जो विचार-योग्य है। भेद में यहाँ नहीं जाऊँगा; भेद है यह ऊह्य मानता हूँ। अब भेद अगर है तो भिन्न व्यक्तियों के धर्म-भाव में या धर्म-साधना कहिए, उसमें यह भेद उभर कर आयेगा। भेद मैत्री आदि भावों में गुण की प्रधानता-गौणता की दृष्टि से हो सकता है—किसी में कोई गुण प्रधान हो, किसी में दूसरा। या हम अगर मानें कि इन भावों में भेद होते हुए भी अविनाभाव है—ये होते साथ ही हैं—तो भी इनके विन्यास में या 'व्यूह' में भेद की बात सार्थक जान पड़ती है। और यों व्यक्ति की धर्म-साधना में भी हम 'स्व' का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्वाच्छन्द्य देख सकते हैं। एक प्रश्न और उठता है। जो बात यहाँ कही गई है क्या वह स्नेह, वात्सल्य आदि के लिए नहीं कही जा सकती? ये भी केवल सिद्ध नहीं साध्य होते हैं। बात स्पष्ट ही विमर्श चाहती है। पर यहाँ इतना ही कहूँगा : करुणा, मैत्री, सहानुभूति, अनुकम्पा आदि में एक सर्वतोमुखी व्यापक भाव है जो समष्टि के प्रति उन्मुख रहता है। स्नेह, वात्सल्य आदि किसी 'विशेष' के प्रति होते हैं।

ऐसे परस्पर को, जो मैत्री, करुणा आदि के आधार पर आनृशंस्य को आदर्श बनाता है, उसे हम धर्म का ऐक्य-पक्ष कह सकते हैं। यह 'अभेद' की ओर उन्मुख है। लेकिन हमारे मनुष्य-भाव में अनैक्य भी उतना ही गहरा है जितना ऐक्य। इसका साध्य आनृशस्य नहीं सत्य है। जिसे मैं व्यवस्था कह रहा हूँ उसका सम्बन्ध इसी से अधिक है। अगर परस्पर-भाव निर्विरोध, एक-सार होता तो शायद व्यवस्था की बात ही नहीं उठती। सत् युग में हम क्या किसी व्यवस्था की बात कर सकते हैं? धर्म चारों पाँवों पर खड़ा था, हम पूरी तरह धर्ममय थे, फिर व्यवस्था क्या? पर फिर धर्म को साध्य भी नहीं कह सकते थे। वह तो स्वभाव ही था। लेकिन अब हमारा परस्पर-भाव है ही ऐसा कि उसे साधना भी पड़ता है। आत्मवान होकर साधना पड़ता है। धर्म की वृत्ति हम में है, पर उसे जगाना-पालना पड़ता है। प्राचीन स्मृतिकारों के शब्दों में यही हमारा पशु-भिन्न मनुष्य-भाव है जिसमें धर्म की वृत्ति सिद्ध भी है, साध्य भी। इस वृत्ति को दायित्व का नाम दे सकते हैं।

दायित्व का सम्बन्ध 'सत्य' से है जिसका हमने आनृशंस्य से भेद किया है। सत्य व्यवस्था का आधार है। धर्म का सम्बन्ध जब आचार-व्यवहार के नियम और विधि-विधान या विधि-निषेध की परम्पराओं से जोड़ते हैं—राज्य-धर्म, व्यवहार-धर्म (कानून) आदि की बात करते हैं तो 'सत्य' की ओर ही इंगित होता है।

धर्म के इस पक्ष का पहले पक्ष से अन्तर उजागर करें तो कुछ बातें कही जा सकती हैं। एक तो धर्म के इस पक्ष में बहिरंग प्रधान है। इसी कारण व्यवस्था की बात करते हुए समझौते जैसे सिद्धान्त की बात उठाना हमें संगत सा भी जान पड़ता है। इसे धर्म का ह्रास कहिये या संकट कहिये या विडम्बना कहिये, पर यह सच है कि परस्पर-भाव के लिए भी की गई किसी व्यवस्था में 'समझौते' की, 'संधि' की, 'समय बन्ध' की उपस्थिति अनिवार्य ही जान पड़ती है। व्यवस्था का प्रबन्ध या बन्ध ऐसे बाहरी नियमों और उपायों पर टिका होता है जो हमें बंधन लगते हैं, मैत्री आदि की तरह सहज 'अन्तरंग' नहीं होते। पर यह प्रबन्ध केवल बहिरंग नहीं होता। इसमें कुछ अन्तरंग भी होता है, नहीं तो इसे 'धर्म' कहना अनर्थक होता। 'नीति' कह सकते थे। आप कह सकते हैं विचार की दृष्टि से इसे 'नीति' कहने में एक लाघव भी है। लाघव यह कि इससे 'धर्म' नाम की एक प्रवृत्ति या क्षेत्र का स्वीकार आवश्यक नहीं रहता, जैसा कि *महाभारत* में है। परस्पर-भाव को स्वार्थ और स्वेच्छा पर ही टिका कर रखा जा सकता है। हाँ, इच्छा मात्र से पूरी तरह काम नहीं चल सकता, क्योंकि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इच्छा अपना ही भविष्य नहीं देख सकती, नीति-निर्धारण नहीं कर सकती। 'बुद्धि' जैसी वृत्ति का स्वीकार ज़रूरी होगा। पर बुद्धि का स्वीकार तो हम सहज ही कर सकते हैं, दूसरे और कारणों से कर सकते हैं और यह मान सकते हैं कि बुद्धि स्वेच्छा और स्वार्थ के 'बृहद्' प्रयोजनों की द्रष्टा है। इच्छा में यह दृष्टि नहीं होती। इच्छा बड़ी तात्कालिक होती है। बुद्धि अनुमान के आधार पर उसे तत्काल की कैद से छुड़ा कर उसे त्रिकालदृष्टि देती है, उसके पसारे को बढ़ाती है। यह सिखाती है कि कुछ इच्छाओं का बाध इच्छा ही के भले के लिए हो सकता है। यों बुद्धि इच्छा की आँख का काम करती है, उसे 'नीति' सिखाती है। समझाती है कि परस्पर-भाव के समझौते में ही स्वेच्छा का 'कल्याण' है।

पर धर्म के जैसे परस्पर-भाव की हम बात कर रहे हैं वह 'नीति' की बात नहीं है। इसलिए 'बुद्धि' मात्र से बात बनती नहीं दीखती; या फिर 'बुद्धि' को ही एक और आयाम, एक गहराई देनी होगी, और उसे हमारे सहज स्वार्थ और स्वेच्छा के साथ ही नहीं, हमारे स्वभाव-सिद्ध परार्थ और आनृशंस्य के साथ भी जोड़ना होगा, क्योंकि इसके बिना तो समझौते की भी बात नहीं बनती। हममें परार्थ-भाव है और विचार में उसकी स्वीकृति भी समीचीन व्यवस्था-विमर्श के लिए आवश्यक है। विचार के लिए हम यहाँ चाहे 'बुद्धि' शब्द को ही लें, पर उसे फिर धर्म से जोड़ना पड़ेगा। 'बुद्धि' का ऐसा अर्थ भी यों तो परम्परा-सिद्ध है। **गीता** में ही मिल जायेगा। 'धर्म बुद्धि' जैसे प्रयोग यों भी समीचीन है हीं। भ्रम से बचने की चेष्टा में और आनृशंस्य-भिन्न सत्यसंस्थ व्यवस्था को धर्म-वृत्ति की परिधि में लाने के लिए ही मैंनें 'दायित्व' जैसे भिन्न शब्द का प्रयोग किया है। 'धर्म-बुद्धि' व्यापक शब्द है। उसमें आनृशंस्य भी आ जाता है। दायित्व का सम्बन्ध सत्य से, नियम और व्यवस्था-बोध से अधिक है। इसके प्रयोग का आशय यही दिखाना है कि धर्म का सम्बन्ध एक ऐसे व्यवस्था-बोंध से है जो परस्पर-भाव की ओर भी उन्मुख है।

एक राजा था, क्षेमदर्शी। गुण आँक कर ही नाम दिया गया लगता है। राजा युद्ध में सब कुछ हार गया। बार-बार चेष्टा की, राज्य पराया ही रहा। थककर निराश हो कर राजा राजनीति के ज्ञानी-गुणी एक मुनि के पास गया, जिनका नाम था कालकवृक्षीय। राजा वृत्ति से भी, स्वभाव से भी और संस्कार-शिक्षा से भी पूरा क्षत्रिय था। ऐसा कि राज्य चलाने के सिवा उसे कुछ नहीं आता था। उन्होंने कालकवृक्षीय से कहा, "ब्रह्मन्, पुरुष मात्र अर्थ का (धन और प्रभुत्व का) भागी—'हिस्सेदार', 'अधिकारी' होता है, पर मेरे जैसा पुरुष बार-बार चाहते हुए और चेष्टा करते हुए भी राज्य न पा सके तो फिर क्या करे? मैं यह भी नहीं चाहता कि आत्मघात कर लूँ या दैन्य से—असम्मान से जीऊँ। या पराधीन हो जीऊँ। और फिर यह भी मुझसे नहीं होगा कि लोक में ओछा बनूं, क्षुद्र, अभद्र कर्म करूं। बताइये, फिर मैं क्या करूँ?"[2]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कालकवृक्षीय ने पहला तो रास्ता संन्यास का—निर्वेद का—बताया जो क्षेमदर्शी को नहीं जँचा। क्षेमदर्शी निवृत्ति में नहीं प्रवृत्ति में ही क्षेम ढूँढ रहे थे। कहने लगे कि ऐसे भी लोग होते हैं जो धन, जन, अभिजन और ऐश्वर्य का सम्पूर्ण त्याग कर देते हैं। मैं नहीं कर सकता। मैं यह मान भी लूँ कि ये धन, जन सब असत् हैं—मिथ्या मोह हैं—तो भी मैं इनका त्याग नहीं कर पाऊँगा। इसलिए वैराग्य का नहीं कोई और दूसरा पथ बताइये जिससे मेरा दुःख और दीनता दूर हों। मुनि ने दुबारा फिर धन-जन के नश्वर होने का ही उपदेश दिया, कहा कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, उस भविष्य की ओर देखो जब कि आज जो लोग बीस या तीस साल के हैं वे भी न रहेंगे। यों देखोगे तो अभी जो कुछ है, जो कुछ तुम अभी हो, उसका मोह टूट जायेगा। ऐसा न कर सको तो एक और बात सोचो। संसार में निर्धन तुम अकेले ही नहीं हो, और भी हैं, जो तुम जैसी ही बुद्धि और उत्साह रखते हैं, पर तो भी तुमसे हीन दशा में हैं; पर तुम्हारी तरह दीन नहीं हो जाते। उनसे तुम कुछ सीखो। धन-जन का होना-न होना ये केवल पौरुष की ही नहीं, भाग्य की भी बात है। बात को मन से मान लो। सोचो, तुम्हारे जैसे और भी हैं जो कि धनी होकर फिर निर्धन हो जाते हैं पर ठीक ही जीते रहते हैं। मन नहीं मार लेते। तुम्हें चाहिए कि दूसरों के धन को सहना सीखो। कई लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि वे ही हैं जो धन के योग्य हैं, दूसरा नहीं। ऐसा सोचना ठीक नहीं। केवल धन के लिए धन कब अच्छा होता है? तुम जैसे प्रज्ञावान को, सन्तोषशील होना चाहिए।

ये विचार ऐसे थे जिन्हें राजा आप भी अपने मन में जगा सकता था। इसके लिए वह मुनि के पास नहीं आया था। मुनि को भी शायद कुछ ऐसा ही लगा; उन्होंने बात बदल दी। उपदेश देना छोड़ा और नीति की वात पर आ गये। बोले कि अगर तुममें सचमुच क्षत्रिय का पुरुषार्थ है और कुछ कर दिखा सकते हो तो एक उपाय बताता हूँ। फिर से राज्य और धन तुम्हारे हाथ होंगे। राजा बोला, मैं तो आया ही इसीलिए हूँ।

मुनि ने पहले जो उपाय बताया उसके दो पक्ष थे : अन्तरंग और वहिरंग। पहले उन्होंने मानस या अन्तरंग उपाय बताया। बोले, पहले तो तुम्हें दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष, भय ये छोड़ देने होंगे। इन्हें छोड़ दो और छोड़ कर तुम अपने शत्रु की ही सेवा करने की ठान लो। उसकी सभा में जाओ और हाथ जोड़ कर उसके आगे खड़े हो जाओ। उसे मनाओ, उसके विश्वासपात्र सेवक बन जाओ। अपनी सच्चाई का उस पर सिक्का जमाओ। तुम्हारी सच्चाई से खुश हो कर, जो मांगोगे वह पद शत्रु तुम्हें देगा। फिर तुम उसी के धन से अपने लिए साथी जुटाने में लग जाओ। राजा को ही नहीं प्रजा को भी अपने आचरण से खुश करो। धन-दान से रिझाओ। धीरे-धीरे तुम्हें भरोसे का आदमी माना जाने लगेगा। सवके लिए प्रमाण, मर्यादा, कसौटी। विश्वासपात्र वन कर तुम भीतर ही भीतर फूट डालने में लग जाओ। मन्त्रियों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी अपने में मिलाओ। तुम्हारे जो मित्र राजा रहे हैं। उनकी मदद से सेना जुटाओ। यों तुम राज्य जीत लोगे। या शत्रु के शत्रुओं से मिल जाना। कहते हैं, बेल से ही बेल फोड़ा जाता है, शत्रु के शत्रुओं से ही उसका नाश करवाओ। इस रास्ते भी राज्य हथिया सकते हो। या फिर शत्रु को भोग-विलास में आसक्त कर दो, यों भी उसे जीत सकते हो। दिखावे के लिए उसे बार-बार व्यसन से रोकते रहो, रोकते हुए ही व्यसन में डालते रहो, ताकि तुम पर आँच न आये। व्यसन में डाल कर उसके महत्त्व-बोध को उसकाओ : उससे इतने इतने बड़े काम करवाओ जो पूरे न हो सकें, जिनसे उसका कोष लुट जाये, शक्ति टूट जाये, राज्य तन्त्र चरमरा जाये। फिर उसका किसी शत्रु से विरोध करवा दो। एक बड़ा उपाय धर्म का भी है। धर्म के नाम पर उसे तोड़ो : उससे बड़े-बड़े यज्ञ करवाओ, उससे कहो कि धर्म और पुण्य ये बड़े पुरुषार्थ हैं, धर्म करने वाला स्वर्ग को जाता है। धर्म में व्यय करवाओ। लोभी ब्राह्मण तुम्हारे काम आयेंगे, भेड़ियों की तरह उसे नोच खायेंगे। पते की बात यह है कि रास्ता चाहे धर्म का हो ग्या 'अधर्म' का, किसी भी रास्ते उसका कोष खाली करवा दो; फिर तुम्हें कुछ नहीं करना होगा, उसके शत्रु ही तुम्हारा काम कर देंगे। एक और काम कर सकते हो। उसकी प्रजा को सताओ, दुःखी कर दो, गुप्त रूप से बढ़ी हुई खेती को नष्ट करवाओ कि लगे प्राकृतिक घटना थी। राजा दुःखी हो तो उसके आगे संसार की नश्वरता की बात करो, योग और वैराग्य की महिमा गाओ। उसे निर्वेद होगा तो तुम्हारा काम आसान होगा। ऐसे ही और भी कई कपट प्रयोग हैं जो किंये जा सकते हैं, हाँ, करने वाले में आत्मसंयम चाहिए। अन्तरंग उपाय पहला उपाय है : दम्भ, अहंकार आदि पर विजय।

क्षेमशील यथा नाम तथा गुण थे—अपना ही नहीं, सबका क्षेम चाहते थे—उन को ये बातें बिल्कुल भी रास न आईं। बोले : "मैं कपट से नहीं जीना चाहता; अधर्म से कभी राज्य और श्री नहीं लूँगा। मैंने आपसे अपने हित का रास्ता पूछा था। आपने जो कहा है, हित की बात नहीं कही है।" राजा के लिए क्षेम, हित इनका मूल आनृशंस्य था। मुनि ने जो नीति बताई थी उसका राजा ने आनृशंस्य के नाम पर खण्डन किया। बोले : 'आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः / नाहमेतदलं कर्त्तुं नैतत् त्वभ्य्युपपद्यते' मैं इस लोक में आनृशंस्य धर्म से जीना चाहता हूँ, आप जो कह रहे हैं, ठीक से कर नहीं पाऊँगा; और ऐसी बातें करना आपको भी शोभा नहीं देता।' यह सुन कर मुनि ने बात का मोड़ ही बदल दिया। राजा को ऋजु आचरण का रास्ता बताया, जिसमें नीति की नहीं निश्छल व्यवहार की बात थी। नीति से वे धर्म पर आ गये। बोले, तुम कुलीन हो, अनृशंस हो, बहुश्रुत भी हो, और फिर राज्य-कर्म से प्रेम रखते हो, उसका मर्म समझते हो। तुम सच्चे मंत्री बन सकते हो। तुम्हें कौन मंत्री नहीं बनाना चाहेगा और फिर कालकवृक्षीय ने क्षेमदर्शी को उसी राजा के यहाँ मन्त्रीपद दिलवा दिया जिस राजा से वे अपना राज्य हार चुके थे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जीतने वाले राजा विदेहराज जनक थे। जनक स कालकवृक्षीय ने कहा कि अच्छा मन्त्री बड़ा दुर्लभ होता है और अच्छे मन्त्री के बिना राज्य तीन दिन भी नहीं चल सकता। क्षेमदर्शी को मंत्रीपद पर रख लो, तुम्हारा क्षेम होगा। रही पिछली जय-पराजय की बात, उसका तो चक्र चलता रहता है, तुम अपने जीवन में दोनों को ही तो देखते रहे।

आगे की कहानी और संवाद यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं, पर विदेहराज जनक ने क्षेमदर्शी से जो वचन कहे उनमें से कुछ यहाँ लिखने का लोभ हो रहा है। जनक ने कहा : मैं तुम्हारी कोई अवमानना नहीं करता हूँ कि मैंने तुम्हें जीत लिया है, न तुम्हारी बुद्धि की अवमानना करता हूँ कि अकुशल थी। और न तुम्हारे पौरुष की मेरे मन में अवहेलना है। मैंने तुम्हें जीता है, ठीक है, पर तुम्हारे गुणों से जीता भी गया हूँ। तुम मुझसे ऐसा बर्ताव करो जैसा जीते हुए को करना चाहिए (जितवद् वर्ततां भवान्)।

एक बात कहानी में बड़ी तीखी उभर कर आती है। नीति और धर्म के साम्य की। बात नीति की हो या धर्म की, दोनों में ही स्वेच्छा की आवेगमयी प्रेरणा का स्थान नहीं। नीति का उपदेश देते हुए भी कालकवृक्षीय क्षेमदर्शी से कहते हैं कि तुम्हारा पहला काम होगा दम्भ, काम, क्रोध, अहंकार, हर्ष, भय पर विजय। स्वतन्त्र होना अगर इच्छा-मुक्त होकर आत्मवश होना है या आत्मवान होना है तो इसे भी हम स्वतन्त्र होना कह सकते हैं और नीति के साधक को स्वतन्त्रता का साधक। पर क्या यह उचित होगा? बात यहाँ चाहे निरहंकार होने की हो, साम्राज्य यहाँ इच्छा का ही है। स्वार्थ का। इच्छापूर्ति के लिए ही इच्छा पर नियन्त्रण की बात है। हम इसके दोष ढूँढें तो किसी विशुद्ध समझौते की दुहाई नहीं दे सकते। कोई किसी के यहाँ जाकर उसका मन्त्री बन जाता है तो यह समझौता ही है। पर समझौता तो किया ही स्वार्थ के लिए जाता है इसलिये कपटभरी नीति कालकवृक्षीय ने क्षेमदर्शी को समझाई, उसमें इस दृष्टि से दोष क्या है? स्वार्थ ही चरम हो तो दोष नहीं निकाला जा सकता। स्वार्थ का कोई भी समयबन्ध यह शर्त नहीं रख सकता कि निष्कपट रहो। शर्त यही हो सकती है कि पकड़े न जाना। इसीलिए काम, क्रोध, भय आदि पर संयम ज़रूरी है। परार्थ के लिए नहीं, स्वार्थ के ही लिए कहीं फिसल न जायें, कहीं भेद न खुल जाये! जिस भय पर विजय की यहाँ बात है, दण्ड का भय है। यह भय बड़ा होता है, इसीलिए नीतिवान को कहा गया है, इस पर काबू रखे। इसके वश हो जायेगा तो नीति के प्रयोग क्या करेगा?

नीति में यों धर्म के गुण हो सकते हैं। आत्मसंयम के गुण। फिर अन्तर क्या है? एक अन्तर तो धर्म को उपाय-रूप में अपनाने में है, जैसा कि कालकृवृक्षीय के उपदेश में ही आता है। वे कहते हैं कि धर्म का दिखावा नीति के बड़े काम का होता है। पर यहाँ धर्म उपेय नहीं है। प्रकट ही है कि कालवृक्षीय धर्म की बात नहीं करते, धर्म का धोखा खड़ा करने की बात करते हैं। जिस अहंकार-दमन की वे वात करते हैं, वह अहंकार का ही विकट रूप है क्योंकि कपट है। और यहीं धर्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और नीति का भेद भी प्रकट है। भेद भाव का भेद है। नीति में मैत्री, करुणा आदि का साथ नहीं । ये कपट के साथ नहीं जा सकते; कपट इनका आभास ही होगा। कपट के साथ सचमुच निरहंकार होने की बात मेल नहीं खाती। असंगत है। यह बात कहानी में भी आई है। क्षेमदर्शी ने कालकवृक्षीय की बात का निराकरण करते हुए पहली ही बात यही कही : न निकृत्या, न दम्भेन ब्रह्मन् इच्छामि जीवितुम्—दुष्ट भाव के साथ, कपट के साथ (निकृत्या) और दम्भ (अहंकार) के साथ मैं जीना नहीं चाहता हूँ। यहाँ देखिये, कालकवृक्षीय ने नीतिवान के लिए 'दम्भ' (अहंकार) पर विजय का उपदेश दिया था, 'दम्भ' शब्द का ही उन्होंने भी प्रयोग किया था। क्षेमदर्शी ऐसे 'दम्भ-जय' को दम्भ ही बता रहे हैं, और ठीक ही बता रहे हैं, क्योंकि यह कपट में और यों स्वार्थ में बसा हुआ है। आनृशंस्य में, मैत्री, करुणा . . . आदि में नहीं। क्षेमदर्शी के लिए आनृशंस्य के निरहंकार में और नीति के निरहंकार में तत्त्व का अन्तर है। नीति में निरहंकार नहीं निरहंकार का धोखा है। आभास है, सत्य नहीं। स्वार्थ की ही स्थिति है, परार्थ की नहीं, जो आनृशंस्य का बीज है। क्षेमदर्शी का स्वभाव संन्यासी का नहीं था—किसी 'परम' आत्म को वे नहीं साध रहे थे, जहाँ स्वार्थ-परार्थ की बात ही नहीं हो सकती। वे प्रवृत्तिप्राण थे; उनमें स्वार्थ का अभाव नहीं था, पर उनका प्रवृत्ति-बीज मैत्री और निर्वैर में था, स्वार्थ में नहीं। यही उनका आनृशंस्य था।

पर एक प्रश्न और उठ सकता है, जिसके समाधान की ओर कहानी में कोई इंगत नहीं है, पर प्रश्न समुचित है। प्रश्न यह है कि राजा जब कहानी के अन्त में जनक के क्षेमदर्शी मंत्री बने तो क्या उन्होंने व्यवस्था की? व्यवस्था में आनृशंस्य और सत्य दोनों की रक्षा कैसे की? इस प्रश्न का उत्तर हम महाभारत में और अन्यत्र आये राजधर्म-विधान के लक्षणों के आधार पर कुछ दे सकते हैं। पर इनमें आनृशंस्य और सत्य में टकराव ही रहता है। टकराव तत्त्व का है, एसा नहीं कि किसी रास्ते मिटाया जा सके। उसके बीच की टोह में हम काफी चल चुके हैं। अगला पड़ाव अगले अंक के लिये छोड़ रहा हूँ, क्योंकि कथन कुछ लम्बा दिख रहा है। अगले पड़ाव पर लेख का भी अन्त कर दूँगा। पाठक के धैर्य पर यों ही बहुत बोझ डाल चुका हूँ।

पाद टिप्पणियाँ

1. अभिनव ने 'मानुष्येण उपहतः' इन शब्दों का प्रयोग अपनी गीताव्याख्या में किया है। युद्धक्षेत्र में अर्जुन की किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि उसका मनुष्य-भाव उसे सता रहा था, जो ज्ञान और अज्ञान इन दोनों के बीच फँसा रहता है। उसके इस मनुष्य-भाव को देखते हुए ही भगवान ने गीता का उपदेश दिया : अत उभयो ज्ञानाज्ञानयोर्मध्यगः श्री भगवतानुशिष्यते। भगवानुवाच। त्वं मानुष्येणोपहत इति। मानुष्य मनुष्यभावः। (देखिये गीता पर अभिनव की व्याख्या, 99; वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशींकर सपादित, नई दी...

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से संवलित श्रीमद्भगवद्गीता, द्वितीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल, 1978, पृ. 39)। मानुष्य भाव की उपहति केवल ज्ञान-अज्ञान के बीच की नहीं है। और भी संकटमयी द्वैधी स्थितियाँ हैं। वैसे ज्ञान और अज्ञान को सबका परम संकेत माना जा सकता है। विवेक और मोह भी ज्ञान-अज्ञान का ही द्वन्द्व है।

2. राजोवाच "अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः। अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन् किंकर्तुमर्हति॥ अन्यत्र मरणाद् दैन्यादन्यत्र परसंश्रयात्। क्षुद्रादन्यत्र चाचारात् तन्ममाचक्ष्व सत्तम॥"
महाभारत, शांति पर्व का राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय 104, 4-5, गीता प्रेस संस्करण।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निवृत्ति तथा परम पुरुषार्थ*

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
आर-4, राजस्थान विश्वविद्यालय पारिसर, जयपुर-4

कुछ सवाल ऐसे होते हैं कि अनेक बार उठाये जाने तथा विवेचित होने पर भी अपना महत्त्व नहीं खोते। मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है अथवा परम पुरुषार्थ क्या है? यह इसी प्रकार का एक चिरंजीवी सवाल है। किसी भी व्यक्ति के जीवन में, किसी भी विषम परिस्थिति में यह सवाल उठ सकता है, उठता है। व्यक्ति विशेष की सोच और अनुभव के प्रकाश में इस प्रश्न का उत्तर उभर सकता है। यद्यपि यह व्यक्तिक सन्दर्भ अत्यन्त समृद्ध हो सकता है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में एक सैद्धान्तिक विवेचन ही अभिप्रेत है।

यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिए कि 'व्यक्तिक' तथा 'सैद्धान्तिक' का यह भेद आत्यन्तिक नहीं है। जाने-अनजाने व्यक्तिक सन्दर्भ सैद्धान्तिक चिन्तन पर अपना प्रभाव छोड़ता ही है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिक सन्दर्भ इस प्रश्न की एक अन्तर्कथा को छिपाये रहता है। यह अन्तर्कथा आत्म-चेतना के उद्‌भव से सम्बन्धित होती है। चेतना का ऐसा उद्वेलन व्यक्ति को उसके सामान्य जीवन-क्रम से अलग ला खड़ा करता है। यह तटस्थ स्थिति तथा अवकाश के क्षण उसे अपने कृत्यों, अनुभवों तथा समग्र अस्तित्व में अपनी जगह के विषय में सिंहावलोकन करने तथा उनकी मीमांसा के लिए उद्यत करते हैं। वस्तुतः ऐसा अवसर जीवन में एक आमूल नवीनीकरण अथवा परिष्कार की संभावना को लेकर आता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि यह संभावना यदाकदा क्रियान्वयन में परिवर्तित होती है।

यह सब होते हुए भी किसी आत्म-कथ्य के प्रलोभन से बचते हुए एक सैद्धान्तिक विवेचन का अवकाश रहता है। जीवन के यन्त्रवत् क्रम में व्यवधान, गहन धर्मसंकट, जगत् में अनेक घटनाओं की असंगति तथा अवांछनीयता एवं उनका अनुभव, जगत् के प्रति एक समग्र जिज्ञासा का हेतु बनते हैं। यह जिज्ञासा एक दृष्टि में फलीभूत होती है। ऐसी दृष्टि जगत् के सम्बन्ध में विभिन्न रूप ग्रहण करती है। सुविधा के लिए हम उसके दो विशिष्ट रूपों पर विचार करना चाहते हैं तथा उन्हें दो प्रसिद्ध अभिव्यक्तियों से अभिहित करेंगे : 'भवसागर' तथा 'कर्मभूमि'। यदि हम भारतीय परम्परा में सांस्कृतिक तथा तात्त्विक चिन्तन के सन्दर्भों को लें तो हम देख सकेंगे कि इन दो दृष्टियों ने जीवन की दिशा को निर्धारित करने में क्या योगदान किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ 'मुक्ति' तथा 'स्वाधीनता' के विषय में एक टिप्पणी, आगे विचार की दृष्टि से, सुविधाजनक होगी। 'मुक्ति' सामान्यतया किसी रूप में किसी अवांछनीय अवस्था से छुटकारा है। इसके विपरीत 'अपने अधीन होना' अथवा 'स्वतन्त्र होना' अपने किसी प्रयास या कर्म में स्वायत्त होना है। दोनों प्रकार की अवस्थाएँ, मुक्ति तथा स्वाधीनता, जीवन के विभिन्न प्रसंगों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन दो अवधारणाओं को उपर्युक्त जगत्-विषयक दो दृष्टियों से जोड़ा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि मुक्ति की बात जब भवसागर से त्राण के रूप में की जाती है तब बहुधा 'मुक्ति' के स्थान पर 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग होता है। जैसा सर्वविदित है, 'मोक्ष' परमपुरुषार्थ के रूप में ग्रहण किया गया है।

भवसागर में होना, स्पष्ट ही, एक ऐसी अवस्था में होना है जिससे शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा मिलना चाहिए। अब यदि जगत् भवसागर का रूप रखता है तब तो प्राणी उससे छुटकारा पाने के लिए हर पल छटपटाएगा। परन्तु ऐसा तो नहीं होता। हमें जीवन में दुःख, कष्ट और पीड़ा भोगनी पड़ती है, परन्तु हम सदैव ऐसी अवांछनीय अवस्था में नहीं होते। तत्त्वतः इस तथ्य को एक भ्रम के रूप में देखा जाता है। वस्तुतः हमें पूरी तरह से अपनी सही स्थिति का बोध नहीं होता। हमें यह बोध हो सके, शायद इसीलिए तत्त्वज्ञान का वह स्वरूप उभरा जिसमें यह बताया गया है कि 'सब कुछ दुःखमय है', 'जगत् मिथ्या है', 'संसार एक कारागृह है', 'शरीर आत्मा की कबर है'।

यदि जीवन भवसागर में फँसे ऐसे प्राणी की व्यथा है जो दुःखों से परिपूर्ण है तब उससे त्राण पाना ही परमलक्ष्य हो सकता है। परन्तु इस लक्ष्य की पूर्त्ति के निमित्त यह ज्ञान अपेक्षित है कि कोई संसार के बंधन में पड़ता कैसे है? जैसा प्रसिद्ध है, संसार में फँसने का एक प्रमुख कारण कर्म-फल की अपरिहार्य शृंखला है। जब तक प्रारब्ध का प्रभाव शेष रहता है तब तक तो भव से कोई छुटकारा नहीं है। यह स्थिति कोई दण्ड भोगने जैसी है।

परन्तु कोई कर्म-फल की ऐसी शृंखला में फँस कैसे जाता है? इस प्रश्न पर गहन विचार हुआ है तथा इस विचार-मन्थन की एक सुदीर्घ परम्परा है। कहा गया है कि इन्द्रियाँ, उनसे संयुक्त मन, और इनके संयोग से विषय-बोध, विषयबोध का परिणाम विषयासक्ति और फिर विषय-प्राप्ति तथा विषय-भोग कर्मफल की शृंखला के हेतु होते हैं। किसी न किसी रूप में यह विश्लेषण भारतीय चिन्तन की प्रमुख धाराओं में एक मौलिक या आधारभूत स्थिति रखता है। ऐसा माना जाता है कि यद्यपि उपभोग तुष्टिदायक तथा सुखद होता है, अन्ततः तो दुःख और कष्ट ही पीछे आते हैं। यह दो प्रकार से : प्रथम तो मर्यादारहित उपभोग अनेक अन्य आवश्यकताओं तथा अवस्थाओं की अवहेलना के कारण व्याधि, व्यतिक्रम तथा दुष्परिणामों को जन्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देता है। दूसरे, स्वयं तुष्टि पुनः तृष्णा को जन्म देती है तथा तृष्णा-तुष्टि-तृष्णा का यह क्रम अमर्यादित उपभोग की दिशा में ले जाता है।

तृष्णा तथा विषयासक्ति से बचने के लिए आवश्यक है कि इन्द्रियों की बहिर्मुखता से बचा जाय और इसके लिए अन्तर्मुखी हुआ जाय। परन्तु ध्यान के इस दिशा-परिवर्तन के लिए एक विकल्प जगत् के प्रति विराग और विकर्षण होना माना गया है। इस मनोदशा के उत्पन्न होने के निमित्त जगत् का अवमूल्यन आवश्यक समझा गया। अन्तःसाधना के लिए विषयों की क्षणभंगुरता, उनके उपभोग से दुःख की अव्यक्त परिणति, और इसलिए उनकी निस्सारता के विषय में निरन्तर चिन्तन-मनन को प्रस्तावित किया गया। इस परिप्रेक्ष्य में केवल भोग्य विषय ही नहीं, अपितु स्वयं देह को भी लिया गया। देह के प्रति, उसकी क्षुधाओं, आवश्यकताओं के प्रति उदासीनता, यहाँ तक कि सक्रिय अवहेलना को आवश्यक और साधना में अंगीभूत माना गया।

स्पष्ट है कि इस दृष्टि में रिश्ते-नाते उतने ही उपेक्षणीय होते हैं जितनी वस्तुएँ तथा स्वयं शरीर। विषय-वस्तुओं का लोभ, उनकी अप्राप्ति अथवा अल्प प्राप्ति पर कुण्ठा, सगे सम्बन्धियों के प्रति मोह और तज्जनित कष्ट एवं क्लेश तथा अदम्य शारीरिक वासनाएँ—ये सब ही तो दुःखमय संसार की विषयवस्तु हैं। क्षण भर के सुख का लोभ हमें इस दुश्चक्र में फँसा देता है। अतः दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति समस्त सांसारिक आकर्षणों, बन्धनों से मुक्ति की अपेक्षा रखती है। इस निषेधात्मक पक्ष में मोक्ष संसार का परम नकार है। यदि हम प्रश्न उठाएँ कि इस नकार का निहितार्थ कर्म के रूप में क्या है तो देहनाश अथवा देहत्याग और इस प्रकार ऐहिक जीवन का अन्त कर डालना, एक सीधे निष्कर्ष के रूप में प्रकट होता है। परन्तु इस रूप में इस निष्कर्ष को व्यक्त रूप में कभी भी प्रस्तावित नहीं किया गया। देह की मलिनता तथा उसके अशौच की जो कल्पनाएँ की गई हैं, उसके जिस जीर्ण-शीर्ण रूप को ध्यान में रखकर उसके प्रति उपेक्षावृत्ति को विकसित करने की जो सलाह दी जाती है, और इन सबसे आगे तप के रूप में उसे पीड़ा देकर, कष्ट और अभाव में रखने का जो कार्यक्रम प्रस्तावित है, उस सबको जीवित रहते मृतप्राय रहने का सुझाव ही कहा जा सकता है। (यहाँ यह विरोधाभास ध्यान देने योग्य है कि 'मलिनता', 'अशौच' आदि का अर्थ अन्ततः इन्द्रिय संवेद्यों पर आश्रित है।)

यद्यपि देह के प्रति अवहेलना के प्रस्तावित तथा वास्तविक उदाहरण हमें प्राप्त हो जाते हैं, सैद्धान्तिक निर्णय के रूप में किसी ने अपनी देह का त्याग किया हो, ऐसा तो शायद ही कोई दृष्टान्त मिले। 'सन्थारा' की बात रखी जा सकती है, परन्तु उसका सन्दर्भ देह के प्रति वितृष्णा प्रमुख न होकर 'जीवन में अब कुछ शेष नहीं है करने को'—यह प्रेरणा ही अधिक प्रबल होती है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि परमार्थ को दैहिक सन्दर्भ से पृथक् रखते हुए भी एक ऐसी अवस्था की कल्पना की गई है जिसमें, जब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तक जीवन-यात्रा प्राकृत रूप में चलती है तब तक उसे चलने दिया जाय। स्वैच्छिक देह-त्याग को आत्महत्या कहा गया और निषिद्ध माना गया। जीवन के लिए नितान्त आवश्यक तथा अनिवार्य कृत्यों — नित्य-नैमित्तिक कर्म और प्रारब्ध भोग को छोड़कर कर्म में प्रवृत्ति को ग़लत बताया गया। फिर भी प्रवृत्ति किन्हीं दूसरे रूपों, साधना एवं आराधना के, में स्वीकार्य रही। यदि अन्य के अस्तित्व को महत्त्व दिया जाय तो स्वीकार्य प्रवृत्ति की सीमा में परोपकार और प्रेम को भी लाया जा सकता है। कहनां न होगा कि निवृत्तिपरक दृष्टि के ये अन्तिम पड़ाव हैं। अन्यों का सन्दर्भ एक रियायत मात्र है, क्योंकि सीमा-बोध तो रहना ही चाहिए।

'रियायत' की बात यहाँ इसलिए आती है कि दैहिक सन्दर्भ की प्रधानता होने के कारण जीवन के प्रति उदासीनता तथा उपेक्षा तो सदैव अपेक्षित हैं। प्रेम तथा परोपकार के निर्वाह में दैहिक सन्दर्भ (जो अन्यों से सम्बन्धित है) की भूमिका की ओर ध्यान नहीं जाता। यह एक तथ्य है कि अहिंसा की भावना में पर-पीड़ा की चिन्ता का समावेश रहता है। पीड़ा का यह स्वरूप कर्त्ता के लिए पर के दैहिक पक्ष से भी सम्बन्धित होता है—पर की पीड़ा, पर के कष्ट का पता हमें उसकी दैहिक अवस्था या मुद्रा से ही चलता है। किसी को पीड़ा या कष्ट से बचाने अथवा उससे मुक्त कराने का प्रयास उसे एक ऐसी अवस्था में देखना है जिससे हम उसकी स्वस्थ अवस्था के विषय में आश्वस्त हो जाएँ। यह देखना दूसरे की दैहिक स्थिति का ही प्रत्यक्ष है।

'दैहिक' पर यह बल इस दूसरे तथ्य से अलग नहीं रखा जा सकता कि दैहिक प्रत्यक्ष अर्थोन्मीलन की अपेक्षा रखता है। यह आवश्यकता हमें अनुभूति या बोध के पक्ष की ओर ले जाती है। दूसरे की स्थिति को समझने में तथा उसके प्रति अपने दायित्व को निश्चित करने में हम स्पष्टतया अदैहिक धरातल पर होते हैं। परन्तु इस धरातल पर रहते हुए भी चित्त पर दैहिक अवस्था के प्रभाव की भूमिका को परिलक्षित किया जा सकता है। चित्त की सक्रियता के लिए एक विशिष्ट दैहिक संस्थान तथा उसमें सक्रिय प्रक्रियाओं की आवश्यकता कोई रहस्यात्मक तथ्य नहीं है।

अपने मुख्य प्रश्न पर वापिस आते हुए और परमपुरुषार्थ के सूत्र को पकड़ते हुए इस बात का स्मरण करें कि संसार से आत्यन्तिक निवृत्ति देहघात के रूप में अस्वीकार्य होने के कारण, निवृत्ति की दिशा हमें अधिक व्यावहारिक आदर्श की ओर प्रेरित करती है। 'देह' की दृष्टि से यह आदर्श हमें दो परस्पर विरोधी आदेशों का निर्वाह करने के लिए बाध्य करता है : प्रथम, देह के लिए इतना तो करना ही है कि देहघात (आत्महत्या) से बचा जा सके; दूसरे, देह की, उसकी आवश्यकताओं और क्षुधाओं की, अवहेलना या उपेक्षा, जो एक प्रकार से हमें उस जैन आदर्श की ओर ले जाती है जहाँ देह की स्थिति नाम मात्र के लिए कही जा सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शायद यह कहना ग़लत होगा कि यह दिशा-निर्देश अधिक व्यावहारिक है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि यह तो निवृत्ति का वह रूप है जिसकी व्यावहारिकता की कल्पना की जा सकती है। यहाँ हमारा ध्यान अपनी संस्कृति में उपलब्ध 'तप' की अवधारणा की ओर जाता है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'तप' की यह अवधारणा केवल सतही तौर पर ही निवृत्तिपरक होती है। सामान्यतया तप किसी विषय अथवा स्थिति की प्राप्ति के निमित्त होता है। किसी न किसी आकांक्षा से प्रेरित होने के कारण वह वस्तुतः प्रवृत्तिमूलक ही होता है।

एक दूसरा प्रश्न, जिस पर बहुधा ध्यान नहीं जाता, उस परिवेश से सम्बन्धित होता है जिसमें निवृत्तिमूलक जीवन का निर्वाह सम्भव होता है। कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति की आवश्यकताएँ केवल शरीर को जीवित अवस्था में रहने देने तक (रखने के लिए नहीं) सीमित हों वह यदि समाज में न भी रहे, अरण्यवासी हो, नितान्त निर्जन परिवेश में रहे, तो क्या समस्या है? यहाँ एक बात तो ख़्याल में यह रखनी चाहिए कि प्राकृतिक परिवेश, जिसे यहाँ हम सामाजिक परिवेश से अलग मानकर ग्रहण कर रहे हैं, दैहिक अवधारणा का विस्तार है। दैहिक तत्त्व तथा प्रकृति तत्त्व में भौतिक घटकों तथा प्राण-व्यवस्था के बीच साम्य होने के कारण उन्हें एक ही कोटि में रखा जा सकता है। वस्तुतः उन्हें इसी प्रकार देखा भी गया है, विशेषकर उन विचारकों के द्वारा जो आत्मा/चेतना तथा देह/प्रकृति के बीच एक मौलिक भेद मानते हैं।

द्रव्यमान (मास) तथा ऊर्जा के परस्पर अन्तर्परिवर्तन की अवधारणा ने जड़-चेतन के भेद की आत्यन्तिकता की मान्यता को ठेस पहुँचाई है।

देह-रक्षा तथा आत्म-साधना के अतिरिक्त जब प्रेम, अहिंसा तथा परोपकार को निवृत्तिपरक परम पुरुषार्थ में अंगभूत मान लिया जाता है तब प्रवृत्ति की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। परन्तु यदि देह-रक्षा तथा परोपकार आदि में दैहिक एवं भौतिक घटकों की स्थिति पर विचार करें तो जिसे आजकल हम इन्फ्रा-स्ट्रक्चर (नींव-संरचना) कहते हैं, तो वह हमें जाने-पहचाने उस ढाँचे की ओर वापिस आने के लिए बाध्य करता है जिससे दूर जाना अथवा जिससे अलग हटना निवृत्ति के निर्वाह में आवश्यक लगा था।

जिन विचारकों ने समाज के आदर्श रूप के विषय में विचार किया है उन्होंने 'उत्पादन' को 'उपभोग' का सहवर्ती मानते हुए उत्पादन की किसी व्यवस्था को सामाजिक संरचना का एक आधारभूत अंग स्वीकार किया है—चाहे सन्दर्भ प्लेटो का आदर्श नगर हो या भारतीय वर्ण-व्यवस्था। उत्पादन-व्यवस्था में उत्पाद की रक्षा, उसके संवर्धन तथा उसके वितरण का समावेश होता है। इस सन्दर्भ में 'गृहस्थ' अथवा गृहस्थाश्रम की विशेष भूमिका मानी गई है। साधु-संन्यासी और उनसे जुड़े

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कुछ क्रिया-व्यापार गृहस्थाश्रम की अनुपस्थिति में संभव नहीं होते। इसलिए भारतीय संस्कृति में गृहस्थ की महिमा का प्रचुर बखान हुआ है।

यदि विभिन्न कर्म-काण्डों का विश्लेषण किया जाय तथा समाज के विभिन्न घटकों पर होने वाले उनके प्रभाव पर ध्यान दिया जाय, तब दो रोचक तथ्य सामने आते हैं। प्रथम, समाज में उन व्यक्तियों की जीवन-रक्षा की व्यवस्था जो केवल उपभोग से जुड़े होते हैं तथा जिनकी उत्पाद-व्यवस्था में कोई भूमिका नहीं होती; दूसरे, विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार को लेकर विचार तथा विश्वासों की एक अत्यन्त जटिल संरचना का उद्भव, और परम्परा, जो हमारी संस्कृति के ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक तथा मूल्यपरक घटकों के विश्लेषण के किसी भी प्रयास को अत्यन्त दुष्कर परन्तु साथ ही उत्तेजक बना देती है।

निवृत्तिपरक आदर्श में प्रवृत्ति की अपरिहार्य भूमिका के स्वीकार की बाध्यता हमें जगत् को 'भवसागर' के स्थान पर 'कर्मभूमि' के रूप में देखने के लिए बाध्य करती है।

'कर्मभूमि' के रूप में जगत् की कल्पना 'भोगभूमि' (स्वर्ग-नरक) के विरोध में उभरी है। यूं तो कर्म तथा भोग दोनों ही प्रवृत्तिमूलक हैं परन्तु सांसारिक जीवन में कर्म भोग का साधन भी है तथा कर्त्तव्य-निर्वाह के रूप में स्वयं साध्य भी। इन दो पक्षों से कर्म की दो भिन्न दिशाओं का पता चलता है। एक ओर कर्मोन्मुखता कर्त्ता के हित—संकुचित या व्यापक, निकटवर्ती या दूरगामी—तक सीमित होती है तो दूसरी ओर अन्य का अस्तित्व तथा हित उसे एक भिन्न आयाम से मण्डित करता है। कर्म की ये दो दिशाएँ हमें जीवन के लक्ष्य के दो भिन्न रूपों की ओर ले जाती हैं : एक जो कर्त्ता के अपने कल्याण तथा अभ्युदय के दायरे तक ही सीमित होता है तथा दूसरा वह जिसमें जीवन अन्य के, अन्ततः प्राणी मात्र के, कल्याण के लिए एक समर्पण का रूप ले लेता है।

ये दो दिशाएँ कर्म के रूप को केवल दो भिन्न रंगों से ही रंजित नहीं करतीं अपितु इनमें से प्रत्येक अनेक रूप ग्रहण करती है। और यह इस बात पर निर्भर है कि कर्त्ता 'स्व' तथा 'पर' के भेद को किस प्रकार परिलक्षित करता है।

दरिद्र विपन्नता के कारण और धनी लोभ के कारण अर्थार्जन तथा अर्थ-वृद्धि को परम लक्ष्य मानकर अपने जीवन के क्रियाकलापों को निर्धारित करते हैं। इसके विपरीत, निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा उसके निमित्त उद्यम का औचित्य तलाश करने की आवश्यकता तो नहीं है। परन्तु निम्नतम की सीमा क्या हो इस का निश्चय विवाद का विषय होता है। सामान्यतया व्यक्ति जिस परिवेश, परिवार तथा वर्ग से सम्बन्धित होता है उसके व्यक्त-अव्यक्त प्रभाव के अन्तर्गत ही वह 'निम्नतम' की व्याख्या करता है। अपनी स्थिति विशेष से तथा संस्कारों से स्वतन्त्र होकर किसी वस्तुनिष्ठ आधार को ध्यान में रखकर 'निम्नतम' का निर्धारण भिन्न रूप और दिशा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ले सकता है। इसका एक बड़ा सटीक तथा प्रभावशाली दृष्टान्त हमें गाँधीजी के जीवन से मिलता है।

परन्तु सामान्यतया साधारण व्यक्ति, चाहे वह दरिद्र हो अथवा समृद्ध, आवश्यकताओं के औचित्य के विषय में कम विचार करता है, वह उनके विस्तार तथा उनकी पूर्त्ति के उचित अथवा अनुचित प्रयास के विषय में कहीं अधिक चिन्तित तथा उत्साहित रहता है। इस उत्साह और चिन्ता में मुख्य रूप से वह स्वयं अथवा उसके परिवार के सदस्य, अथवा जिन्हें वह अपना प्रिय और निकट का मानता है वे, केन्द्र में होते हैं। यह सीमित दायरा केवल तथ्य का वर्णन ही नहीं है अपितु इसे सहज और इसलिए उचित एवं विवेक-सम्मत भी समझा जाता है। इस प्रकार की बौद्धिकता की पुष्टि के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं होती, केवल ईमानदारी से उन अवसरों को याद करना ही पर्याप्त होता है जब कुछ करने के पहले हमने यह प्रश्न अपने सामने रखा होता है—'ऐसा करने से मुझे क्या लाभ?' अथवा 'अमुक के लिए मैं ऐसा क्यों करूँ, वह मेरा कौन लगता है?'

यदि हम दोहरे मानदण्डों की बात न करें, जो जाने-अनजाने हममें से अधिकतर लोग मानकर चलते हैं, तब यह स्पष्ट है कि हमारा जीवन हमारे अपने निजी सरोकारों के बाहर शायद ही अग्रसर होता हो। विचित्र तथ्य यह है कि लगभग सभी संस्कृतियों में सैद्धान्तिक स्तर पर इस सीमित बौद्धिकता को जीवन तथा समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों, असंगतियों तथा संघर्षों के मूल कारण के रूप में देखा गया है। ऐसा भी नहीं है कि औपचारिक या अनौपचारिक रूप में साधारण व्यक्ति ऐसी चेतावनी तथा सलाह से कभी न कभी अवगत नहीं होता कि केवल अपने लिए जीना न केवल पशुवत् जीना है अपितु दुःखों का मूल भी है। फिर भी वह इस बोध का उपयोग अधिकतर तभी करता है जब वह स्वयं संकट में होता है तथा उसे दूसरे के सहयोग की ज़रूरत होती है। इसके अतिरिक्त यह भी जाना जाता है कि हम व्यापार में दोहरे खातों की भाँति परस्पर व्यवहार में भी दोहरी नीति अथवा सन्दर्भ तथा स्थिति की दृष्टि से एक से अधिक परन्तु परस्पर विरोधी नियमों या नीतियों का अनुसरण करते हैं।

यह सब इसलिए होता है कि हम जाने-अनजाने कहीं इस अधिक सामान्य धारणा को नियमवत् और नीतिनिर्धारक मान लेते हैं कि दीन और दुनिया के रास्ते अलग-अलग हैं और उन पर एक साथ नहीं चला जा सकता। एक सफल व्यक्ति को व्यवहार-कुशल समझा जाता है और इसका मतलब यही लगाया जाता है कि वह व्यक्ति स्थिति के अनुकूल कितनी चतुराई से व्यवहार कर सकता है। प्रचलित राजनीति में जो व्यवहार देखने में आता है वह इस प्रकार की व्यवहार-कुशलता का उपयुक्त दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कभी-कभी ये विरोधाभास हमारे गले नहीं उतरता उसका कारण यह कहा जा सकता है कि हम यह मानकर चलते हैं कि बुद्धिमान तथा विवेकशील प्राणी होने के कारण हमारे विचार तथा हमारे कर्म संगत होते हैं, उनमें कोई व्यवस्था होती है। मनस् में उपस्थित विचारों को हम एक ऐसे टेक्स्ट के रूप में देखते हैं जिसमें सभी कुछ क्रमबद्ध, विरोधाभास-मुक्त, सुसंगत तथा युक्तियुक्त होता है। ये विशेषताएँ बुद्धि तथा विवेक से सम्बद्ध मानी जाती हैं और इन्हें इस रूप में स्वीकार करने पर मनस् के विषय में संगत विचारों की अपेक्षा वाजिब लगती है। परन्तु वस्तुस्थिति को सामने रखते हुए हममें से अधिक संख्या में लोग अपेक्षित रूप में बुद्धिमान तथा विवेकशील सिद्ध नहीं होते, यद्यपि हममें से प्रत्येक में वैसा होने की क्षमता होती है। (और भी अधिक रोचक बात यह है कि हममें से प्रत्येक स्वयं अपनी दृष्टि में अपने को बुद्धिमान और आत्मसंगत समझता है।)

चाहे बात मानवीय मनस् की हो अथवा किसी लिखित पाठ (टैक्स्ट) की, अथवा कर्म-शृंखला की, इन तीनों में ही तथ्य की दृष्टि से असंगतियों, भ्रान्तियों तथा ग़लतियों का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। इसके बावजूद मानवीय स्थिति में विलक्षण तथ्य यह है कि हम स्वयं विरोधाभासों को लक्षित करते हैं, उनके कारण सोचने के लिए बाध्य होते हैं तथा उनसे मुक्त होने का प्रयास करते हैं। दैनन्दिन के व्यस्त क्रम में तथा अनगिनत माँगों के दबाव में बहुधा प्रयास के ये सूत्र हमारे हाथ से छूट जाते हैं, परन्तु किन्हीं क्षणों में ये पुनः पकड़ में आ जाते हैं। आत्म-चेतना के ये क्षण ही वे क्षण हैं जब समग्रता की दृष्टि से जीवन के विषय में हम प्रश्न उठाते हैं, परम पुरुषार्थ के विषय में सन्धान को गंभीरता से लेते हैं। ये क्षण ही वे क्षण हैं जो जीवन की सार्थकता का स्रोत हैं तथा मनुष्य के रूप में हमें अन्य प्राणियों से अलग करते हैं। ऐसे ही क्षणों में हम अपने चारों ओर एक विहंगम दृष्टि डालने, अस्तित्व में अपनी स्थिति तथा अपने स्थान को जानने एवं उसके साथ एक अधिक समस्वर अवस्था की संभावना पर विचार करने की दिशा में प्रेरित होते हैं। ऐसे ही क्षण मौलिक रूप में सृजन का उत्स बनते हैं। ऐसे ही अवसरों पर स्व तथा पर के अन्तर की कृत्रिमता का बोध उत्पन्न होता है।

स्व और पर के भेद का धूमिल होता हुआ यह बोध व्यापक मानवीयता को ही नहीं समस्त अस्तित्व की दिशा में एक विशद क्षितिज को आलोकित करने लगता है। 'कर्मभूमि' के रूप में तब जगत् एक नितान्त भिन्न रूप में प्रकट होता है। स्व-परक अत्यन्त संकुचित कारा से मुक्त हो कर्म की दिशाएँ सद्वृत्ति से प्रेरित होती हैं।

यहाँ सत् एवं असत् के सन्दर्भ में एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। साधारणतया 'सत्' से कुछ नियत, स्थिर, अपरिवर्तनीय अधिष्ठान जैसा कुछ समझा जाता है। कभी-कभी उसे मूल्य रूप में भी प्रतिष्ठित किया जाता है। एक अन्य सन्दर्भ सत्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को मानक रूप में स्वीकार करना या प्रतिष्ठा देना, जो जैसा है उसे उसी रूप में रहने देना भी है, और इस प्रकार एक ऐसी विचारधारा को अपनाना है जिसमें परिवर्तन या परिष्कार का अस्वीकार होता है और जिसे प्रतिक्रियावादी दृष्टि के रूप में अभिहित किया जाता है।

इसके विपरीत 'असत्' शब्द का प्रयोग 'जो नहीं है' तथा 'जो होने के योग्य भी नहीं है' इन दोनों के लिए किया जाता है। कभी-कभी वह एक ऐसे उत्स या स्रोत के रूप में भी देखा जाता है जो सम्भावनाओं का अव्यक्त आगार है।

हम अपनी बात के प्रसंग में 'सत्' की बात को एक भिन्न प्रकार से रखना चाहते हैं। इस भिन्न प्रकार की प्रस्तुति का औचित्य इस पक्ष को प्रस्तुत करने के क्रम में स्पष्ट होगा ऐसा हमारा विश्वास है। सत् की अतिक्रामी, अतीन्द्रिय तथा उद्गृहीत (एब्स्ट्रैक्ट) अवधारणा के स्थान पर यदि हम उसे ऐसे मूर्त्त रूप में ग्रहण करें जो समग्र अस्तित्व का सूचक है, जो हमारे चारों ओर व्याप्त है, जिसका आदि-अन्त अपरिहार्य और नैरन्तरिक जिज्ञासा का विषय है, और जिसके मनुष्य रूपी हम प्राणी अत्यन्त नगण्य अंग हैं, तो हमें यह स्पष्ट होगा कि सत् न तो स्थिर है और न नियत। उसमें ऐसी गत्यात्मकता का समावेश है जिसके स्वरूप तथा दिशा के अस्पष्ट और अपर्याप्त संकेत ही मानवीय चेतना को उपलब्ध हो सके हैं। ब्रह्माण्ड के क्षुद्र अंग के रूप में मानव की नियति अकल्पनीय रूप में विशद एवं बृहद् गत्यात्मकता की एक ऐसी माइक्रो (अति लघु) कथा है जिसमें मनुष्य एक घटक भी है और कर्तृत्व का केन्द्र भी।

सत् की इस अवधारणा को ध्यान में रखते हुए हम उसके प्रति मानवीय चेष्टा की दो मुख्य दिशाओं का उल्लेख करना चाहते हैं जो परम पुरुषार्थ के दो भिन्न प्रारूपों को निर्धारित करती हैं। एक तो वह जिसमें प्रकृति को जीतने, उस से निरन्तर कुछ प्राप्त करते रहने तथा उसका उपभोग करने का प्रयास विशिष्ट है। दूसरा वह जिसमें प्रकृति के साथ होना और रहना, उसके प्रति समस्वर हो, उसे मातृवत् मानते हुए उससे पोषण प्राप्त करना विशिष्ट है। कहना न होगा कि इस दूसरी दृष्टि में प्रकृति के प्रति मानवीय दायित्व का भी समावेश है।

प्रथम प्रारूप में मनुष्य एक ऐसी दरार पर अपनी समृद्धि का भवन-निर्माण करना चाहता है जो उसकी कल्पना का कृत्रिम परिणाम है। कृत्रिम इसलिए कि समग्र से विलग मनुष्य की अपनी कोई नितान्त अलग स्थिति नहीं है। अपने मूल से संघर्ष, अथवा उसे अपने प्रभुत्व में लाने की योजना, उसे केवल अपने उपभोग का साधन बनाने का कार्यक्रम वस्तुतः सत् के स्थान पर असत् पर आधारित है।

सायंस तथा टैक्नोलोजि का निर्देश कर हम इस आलोचना को अनर्गल कह सकते हैं तथा प्रकृति पर मनुष्य की विजय का डंका पीट सकते हैं। परन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह उत्साह क्षणिक सिद्ध होगा। सायंस से हम प्रकृति के स्वरूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तथा उसकी घटनाओं के विषय में समझ और जानकारी की अपेक्षा करते हैं और इस ज्ञान के आधार पर टैक्नोलोजीय कार्यक्रम बनाते हैं। इस सब से 'क्या पता चलता है? इतना तो स्पष्ट है कि हम वैज्ञानिक समझ तथा जानकारी के आधार पर तथा उसके अनुरूप ही कुछ कर सकते हैं। हम न तो प्राकृतिक नियम का उल्लंघन कर सकते हैं और न ही उसे बदल सकते हैं (पाठक यह ध्यान में रखें कि प्राकृतिक नियम अथवा वैज्ञानिक नियम की सुनिश्चितता एवं आत्यन्तिकता अब उतनी स्थिर नहीं रह गई है जितनी पहले कभी समझी जाती थी)। नियम तथा कर्म की अनुरूपता को ध्यान में रखते हुए क्या यह नहीं कहा जा सकता कि टैक्नोलोजि सत् से संगति रखती है?

यहाँ एक गम्भीर आपत्ति उठाई जा सकती है : पूछा जा सकता है कि क्या टैक्नोलोजि की जो विध्वंसात्मक, और मानवीय गरिमा, अधिकार तथा स्वतन्त्रता का हनन करने वाली व्यवस्था में भूमिका है वह भी सत् से संगत है? सत् के किसी भी सर्वग्राही विश्वास अथवा सिद्धान्त की स्वीकृति जो अवांछनीय है, अमानवीय है, जो असुन्दर, अशिव और असंगत तथा असत् है, उसके साथ किस प्रकार संगत बैठ सकती है? (यहाँ जो निषेधात्मक प्रत्यय उल्लिखित हैं, वे परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को जन्म देते हैं, परन्तु उन पर यहाँ विचार छोड़ना होगा।) वस्तुतः यह प्रश्न एक ऐसा मौलिक प्रश्न है जिसका कोई सन्तोषजनक उत्तर हमें अभी भी उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस प्रश्न की जटिलता को समझने का प्रयास तो हमें करना ही होगा।

सत् के जिस सर्वग्राही तथा गत्यात्मक संप्रत्यय को लेकर हम अपनी बात करना चाह रहे हैं स्पष्ट है वह अपने से इतर, अपने से बाहर किसी प्रतिरोधी का नितान्त अस्वीकार है। निषेधपरक अथवा असत्-मूलक प्रत्यय प्रत्ययों में मौलिक द्वैत के किसी एक पक्ष के सूचक हैं। विभिन्न दृष्टियों से ये दोनों पक्ष परजीवी हैं। स्वरूप या अर्थ की दृष्टि से असन्मूलक प्रत्यय सत् की पूर्वापेक्षा रखते हैं; गति की दृष्टि से सत् किसी रूप में असत् की अपेक्षा रखता है। परन्तु यह सारा सन्दर्भ मानवीय एवं ज्ञानरूपी है। अस्वीकार, निषेध, परिहार अथवा निवारण जैसे प्रत्ययों को मानवीय सन्दर्भ में ही सार्थकता प्राप्त होती है।

एक दृष्टान्त लें। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण कचरे की व्यवस्था विभिन्न स्तरों पर अधिकाधिक जटिल होती जा रही है, फिर चाहे यह घर का कूड़ा करकट हो या आणविक अवशेष। नगर के परिप्रेक्ष्य में आबादी के क्षेत्र बढ़ने पर कचरा फेंकने के लिए नये स्थान को तलाश करना पड़ता है। अब यह नया स्थान नगर की परिधि में ही कहीं होना चाहिए (नगर का बाहर अन्ततः नगर के आसपास या उसकी बाहरी परिधि में ही होता है)। ऐसी ही समस्या उन उद्योग-कारखानों के सम्बन्ध में भी उठ रही है जिनसे नगर का वातावरण दूषित होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कचरा अथवा प्रदूषण स्वच्छता के अन्तर्गत नहीं आते। नगर यदि स्वच्छ रखना है तो कचरा अथवा प्रदूषण-प्रसारक तत्त्वों को नगर से बाहर करना होगा। परन्तु उन्हें कैसे बहिष्कृत किया जाय? दूसरे नगर की सीमा में तो यह नहीं हो सकता। अन्ततः नगर में ही उन्हें कहीं जगह देनी होगी। आदर्श तो यह है कि उन्हें जगह दी ही न जाय, परन्तु यह संभव नहीं है। अब एक अधिक युक्त उपाय यह किया जा रहा है—जो कुछ महानगरों तक ही सीमित है, कि कचरे का रूपान्तरण कर उसे उपयोगी बनाया जाय। प्रदूषण-प्रसारक प्रक्रियाओं को नियंत्रित किया जाय। अन्य शब्दों में, जो पहले कचरा था अथवा हानिकारक प्रक्रिया थी, रूपान्तरण तथा नियन्त्रण के बाद वह नया रूप ग्रहण कर लेती है तथा फिर उसके निष्कासन की समस्या नहीं रहती।

इस दृष्टान्त से पता चलता है कि कोई वस्तु नितान्त त्याज्य से परिमार्ज्य में रूपान्तरित हो सकती है। इस प्रकार नितान्त अस्वीकार्य परिमार्जन एवं परिष्कार के द्वारा अपनी मूल आत्यन्तिकता खो देता है। दूसरी बात यह है कि जो किसी अवस्था में अवांछनीय है उसे आत्यन्तिक रूप में नष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु क्या कुछ भी निरपेक्ष रूप में नितान्त अवांछनीय होता है? जो किसी दृष्टि विशेष से, किसी सन्दर्भ विशेष में अवांछनीय रह जाता है व्यापक दृष्टि से वह सत् का अंगभूत बना रहता है। सत् के गत्यात्मक स्वरूप को ध्यान में रखें तो यह तथ्य और भी धुंधला पड़ जाता है।

रूपान्तरण मानवीय सन्दर्भ के बाहर भी सत् की गाथा में समाविष्ट है तथा मानवीय सन्दर्भ के अन्तर्गत भी। सत् में असत् की यह अन्तरंगता, सत् की बुद्धिगम्यता में बाधक सिद्ध होती है तथा बुद्धि के लिए एक सतत चुनौती का रूप रखती है।

कर्मक्षेत्र में सत् (प्रकृति) को जीतने अथवा उसे नियन्त्रित करने की वृत्ति स्व-पर के आत्यन्तिक भेद पर आधारित होती है। परन्तु स्व-पर का भेद सत् के अन्तर्गत ही सम्भव होता है। सद्वृत्ति के विरुद्ध पड़ते हुए भी सत् को जय करने की वृत्ति सत् के अन्तर्गत ही आती है तथा उपर्युक्त रूपान्तरण की प्रक्रिया में अंगभूत होती है। सद्वृत्ति की सक्रियता का एक बड़ा अंश असद् के परिहार से संचालित होता है। अब यदि असद् को शब्दशः लें तब तो 'असद् का परिहार' एक अनर्गल अभिव्यक्ति होगी। स्पष्ट है कि असद् से आशय उस अवस्था से है जो सत् से विरोध रखती है अथवा उसके प्रतिकूल होती है। सत् असत् की अधिक विस्तृत चर्चा को यहाँ छोड़ना पड़ेगा। यह एक अत्यन्त रोचक तथ्य है कि भारतीय संस्कृति में नैतिकता से सम्बन्धित शब्दावली में 'सदाचार', 'सन्मार्ग', 'सद्वृत्ति', 'सत्संग', 'सद्गति', 'सज्जनता' जैसे शब्दों का व्यवहार होता है। इन सभी प्रयोगों में 'सत्' के प्रत्यय की महती भूमिका है। इस भूमिका का स्वरूप अभी अन्वेष्य है तथा भारतीय नीति तत्त्व को समझने में ज़रूरी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह एक विलक्षण बात है कि भारतीय पौराणिक कल्पनाओं में दैत्यों तथा देवों को एक ही पिता—कश्यप की सन्तान कहा गया है। इतना ही नहीं, शक्ति, प्रभुता तथा भोग के निमित्त दैत्यों को भी तप का आश्रय लेना पड़ा है तथा उनके तप से प्रसन्न होकर परम देवों ने दैत्यों की कामना की पूर्त्ति के वरदान भी उन्हें दिये हैं। इन में प्रह्लाद जैसे दैत्य, जिन्होंने स्वयं क़ो सत् के अंगभूत रूप में स्वीकार कर लिया, सज्जनों की श्रेणी में आ गए। 'सत् के अंगभूत रूप' में यहाँ उस वैश्विक व्यवस्था का अंगीकार है जिसके संचालक विष्णु माने गये हैं। दूसरे, जिन्होंने अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग बनानी चाही, अपना वर्चस्व घोषित करते हुए उस मूल को अस्वीकार किया जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हुई, वे अन्ततः अपनी दुर्जनता के कारण नष्ट हो गए। यदि पौराणिक कथात्मक रंग को हटाकर उपर्युक्त वर्णन को अवधारणाओं के रूप में लें तब असत् के रूपान्तरण में तथा सद्वृत्ति के सक्रिय रूप में सत् की भूमिका, उसकी सर्वग्राहिता कुछ स्पष्ट होती दीखती है।

असत् विषयक इस द्रविड़-प्राणायाम से अपने मूल प्रश्न पर आते हुए परम पुरुषार्थ के उस रूप की बात की जा सकती है जिसमें 'प्रवृत्ति' का स्वीकार करते हुए भी स्व तथा पर का भेद आत्यन्तिक नहीं होता, भोग तथा प्रभुता प्रमुख प्रेरक नहीं होते, मनुष्य-मनुष्य तथा मनुष्य-प्रकृति के बीच जो सम्बन्ध होता है वह एक अन्तरंग समस्वरता का होता है। पुरुषार्थ का यह सन्दर्भ, लगता है, 'सत्' युक्त अभिव्यक्तियों का अर्थ अधिक संगत रूप से उजागर करता है। ऐसा लगता है कि इस प्रस्तुति में सत् के सत्तावाचक प्रयोग तथा मूल्यपरक प्रयोग के अन्तर की अवहेलना की गई है परन्तु विशद विचार होने पर भी यह सम्बन्ध समस्यामूलक है तथा स्वतन्त्र विवेचन की अपेक्षा रखता है। मेरा विश्वास है कि इन दो प्रयोगों के पीछे सत् तो एक ही है। इस विचार की चर्चा को अभी तो छोड़ना होगा।

उपर्युक्त बातों से यह भी स्पष्ट होता है कि कर्म की मर्यादाओं का निर्धारण किस आधार पर युक्तियुक्त कहा जा सकता है। संसार को निषेधात्मक रूप में ग्रहण करने पर तथा जीवन के प्रति नितान्त निवृत्तिपरक रुख अपनाने पर तो कर्म का रूप ही नहीं उभरता, उसकी मर्यादाओं का प्रश्न तो कहाँ उठता है। अन्य शब्दों में, कर्म की मर्यादा अथवा कर्त्तव्य के रूप का प्रश्न केवल प्रवृत्तिमूलक सन्दर्भ में ही उठता है। इस सन्दर्भ में मर्यादा यदि आत्मांकुश, संयम तथा त्याग की पूर्वापेक्षा का संकेत दे तब प्रवृत्ति के सन्दर्भ में निवृत्ति एक भिन्न अर्थ ले लेती है जिसका सन्देश हमें गीता से प्राप्त होता है।

गीता में 'कर्म' एक मूलभूत अवधारणा है। वहाँ उसके विभिन्न विवरण होते हुए भी, इतना तो स्पष्ट है कि जिस कर्म का प्रतिपादन वहाँ किया गया है वह एक दिशा रखता है तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मों से भिन्न है। इसलिए उसे प्रवृत्तिमूलक कहने में कोई दोप नहीं होगा। परन्तु उसे एक ओर अहं तथा आसक्ति से मुक्त रखना और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दूसरी ओर तत्त्वज्ञान में अधिष्ठित करना प्रवृत्ति की सीमा निर्धारित करना है और इसी घटक को निवृत्तिपरक कहा जा सकता है। पुनः कहना होगा कि निवृत्ति का यह रूप नकारात्मक नहीं है।

कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ की अवधारणा मूलतः वैयक्तिक है। कर्म का उत्स अन्ततः किसी व्यक्ति की इच्छा, संकल्प अथवा लक्ष्य से ही सम्बन्धित होता है। अतः वह इस दृष्टि से पूर्णतया स्व-परक है। यदि ऐसा है तो स्व-पर का भेद कर्म की यात्रा का प्रथम सोपान है। यदि मनुष्य के केवल जैव पक्ष और स्व पक्ष की आवश्यकता को ही लें तो स्व-पर भेदमूलक यह आपत्ति कुछ बल रखती है। परन्तु यदि स्व में अन्य की अन्तरंगता की ओर ध्यान दें (जिसका नकार उसका अकेलापन होगा जो तथ्य के स्तर पर भ्रान्तिजनक है और मूल्यसन्दर्भ में अवांछनीय), तब यह स्पष्ट होने लगता है कि मनुष्य के संकल्प तथा लक्ष्य केवल उसके वैयक्तिक पक्ष तक सीमित नहीं होते।

स्व तथा पर के सम्बन्ध के विषय में यह पक्ष कुछ उलझा हुआ तथा अस्पष्ट इसलिए रह जाता है कि स्व में अन्य की अन्तरंगता अधिकतर आत्मविरोधी रूप ग्रहण कर लेती है। फलतः स्व की दिशा संकुचित हो जाती है। साधारण स्तर पर प्रेम तथा अपनों के प्रति मोह इस वृत्ति के उदाहरण माने जा सकते हैं। इस वृत्ति में अन्य का स्वीकार सीमित रूप में ही होता है तथा स्व-पर का एक मौलिक भेद बना रहता है। जब अन्य की अन्तरंगता अपने सर्वग्राही रूप में विकसित होती है, तब उसके परिप्रेक्ष्य में पुरुषार्थ केवल कर्त्ता अथवा व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता। इसे ही हम अपने प्रस्तावित अर्थ में निवृत्ति का प्रवृत्ति में समाविष्ट होना मानते हैं।[1]

पाद टिप्पणियाँ

*. इस लेख का ड्राफ्ट शल्यजी ने देखा है। उन्होंने कुछ अशुद्धियों तथा कमियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। अशुद्धियों तथा कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया है फिर भी अनेक दोष अभी भी मिल जायंगे जिनका दायित्व मुझ पर ही है। सुधी पाठकों से आशा है कि वे इनकी ओर ध्यान दिलायेंगे।

1. स्व में पर की अन्तरंगता स्व तथा पर की अभिन्नता नहीं है। अपनी अर्थ-व्याख्या की दृष्टि से दोनों परस्पर आश्रित हैं। अन्तरंगता से आशय 'परायेपन का निराकरण' है। स्व और पर के भेद का निराकरण, पर की चेतना के अभाव के रूप में समझें अथवा स्व की चेतना के अभाव के रूप में लें, एक ही बात है। परम पुरुषार्थ का तत्त्व कल्याण के जिस रूप में प्रस्तावित है उसमें स्व अथवा पर को लेकर एकान्त सीमाएँ नहीं होतीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी

वरण की प्रामाणिकता का प्रश्न

उन्मीलन के गतांक के बाद उन्मीलन-गोष्ठी की दूसरी बैठक 4.11.96 को हमारे घर पर हुई। इस गोष्ठी में मेरे अतिरिक्त निम्नलिखित ने भाग लिया—

1. प्रोफेसर दयाकृष्ण, 2. प्रोफेसर राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, 3. डॉ. के. एल. शर्मा, 4. डॉ. मुकुन्द लाठ, 5. डॉ. भगवती राव, 6. डॉ. राजवीर सिंह शेखावत, 7. श्री कुलदीप तथा 8. श्री कमलनयन।

इस गोष्ठी में मैंने अज्ञेय जी द्वारा कार्ल यास्पर्स से किया गया एक प्रश्न विचारार्थ रखा था, जिसका यास्पर्स ने जो उत्तर दिया अज्ञेय जी के अनुसार वह प्रश्न को टालना मात्र था। प्रश्न और उत्तर निम्न थे—

पृथ्वी पर हम आये तो अपनी इच्छा से नहीं आये। पार्थिव जीवन का हमने वरण नहीं किया। तब वरण पर आधारित हमारे नीतिशास्त्र का प्रमाण क्या है? यास्पर्स ने इसका एक तरह से कोई उत्तर नहीं दिया, जो उत्तर दिया अज्ञेय जी ने उसे टालना लिखा है। उत्तर दिया **ऐसे कई बिन्दु होते हैं जहां से लेखक की खोज का रास्ता दार्शनिक के रास्ते से अलग हो जाता है। (एक बूंद सहसा उछली, पृ. 37-45)**

इस पर मैंने, डॉ. भटनागर ने तथा मुकंद जी ने अपने विचार लिखित रूप में प्रस्तुत किये। ये लेख यहाँ दिये जा रहे हैं।

यशदेव शल्य

यहाँ यह देखना रोचक होगा कि सार्त्र भी मनुष्य को अपना रास्ता स्वयं ढूंढने के लिए संसार में फेंक दिये गए के रूप में ही देखते हैं। इसी प्रकार एक स्पेनी दार्शनिक गेस्सेट के अनुसार "जीवन हमें प्रदत्त होता है, यह हम स्वयं को प्रदान नहीं करते, हम अपने को इसमें पाते हैं—अकस्मात् और यह बिना जाने कि कैसे! (जोसेफं ओर्गेटा वाइ. गेस्सेट, हिस्ट्री एज़ ए सिस्टम, पृ. 165)

इस प्रश्न का क्या अर्थ है यह उतना स्पष्ट नहीं है जितना प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है। इस प्रश्न का आरंभ ही एक भ्रांत धारणा को पूर्वगृहीत कर होता है कि 'इच्छानुकूल चयन वरण होता है।' अब यदि इसे स्वीकार किया जाय तो स्वेच्छाचार और नैतिक आचरण एक ही हो जाएंगे। दुर्भाग्यवश कुछ अस्तित्ववादी बहुत कुछ ऐसा ही मानते प्रतीत होते हैं। अज्ञेय जी ने इसे पूरी तरह मान लिया है। इस प्रश्न में दूसरा पूर्वग्रह है कि हम संसार में अपने से नहीं आते।' इसका क्या अर्थ है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसके दो वैकल्पिक अर्थ हो सकते हैं—एक यह कि हम संसार में एक प्रदत्त स्वभाव लेकर आते हैं, और दूसरा यह कि हम स्वभाव-हीन रूप से संसार में आते हैं। अब, यदि इनमें पहला विकल्प माना जाय तभी हम संसार में अपने वरण के बिना आये कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'हम' का तभी कुछ अर्थ बनेगा यदि हमारा कोई स्वभाव हो, वह चाहे हमारा अपने को स्वयं दिया हुआ नहीं भी हो। यदि दूसरा विकल्प मानें, कि हम संसार में निस्स्वभाव रूप में अवतरित होते हैं, तो इसके भी दो विकल्प हो सकते हैं। एक यह कि हम यह स्वभाव उस परिवेश से प्राप्त करते हैं जो आगन्तुक रूप से हमें मिलता है, या यह कि हम जन्म के बाद किसी समय स्वयं वरण करके अपने को एक स्वभाव देते हैं। अब, यदि इनमें से प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय—कि हम अपने परिवेश से स्वभाव प्राप्त करते हैं, तभी उचित रूप से यह कहा जा सकता है कि हम अपने वरण से संसार में नहीं आते, दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हम तभी 'हम' होते हैं जब हम स्वभाववान् होते हैं, अन्यथा तो हमें 'हम' कहने का कोई अर्थ ही नहीं बनता। अब, यदि हम 'हम' स्वतः ही होते हैं परतः नहीं, तब स्पष्ट है कि हम अपने को स्वभाव भी स्वतः ही देते हैं और इस प्रकार हम अपने स्वभाव का, अर्थात् अपने संसारावतरण का वरण भी स्वतः ही करते हैं। यहां कहा जा सकता है कि यदि हम अपने को स्वयं स्वभाव देते हैं तो हम स्वभाव से प्राक् हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे 'हम' होने के लिए स्वभाव पूर्वापेक्षित नहीं रहता बल्कि 'हम' स्वभाव के लिए पूर्वापेक्षित हो जाते हैं। यह सही है, एक अर्थ में तो यह भी कहा जा सकता है कि स्वभाव केवल उसी का होता है जो अपने को स्वभाव दे सकता है, स्वभाव 'स्व' द्वारा सृष्ट भाव (सत्) ही हो सकता है, शेष सब तो निस्स्वभाव ही होता है। नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पन्नता और निस्स्वभावता को जो समानार्थक कहा है वह इस रूप में ठीक ही है। अब, यदि यह ठीक है तो यह कहना ठीक नहीं होगा कि हम संसार में अपने वरण से नहीं आते, क्योंकि मनुष्य के संसारावतरण या संसार में आगमन का अर्थ मां के गर्भ में आना या गर्भ से बाहर आना नहीं है। यदि इसका अर्थ जैविक उत्पत्ति हो तो यह बात स्वतःसिद्ध होगी कि हम संसार में निस्स्वभाव ही आते हैं और यह भी कि नीतिशास्त्र वरण पर आधारित नहीं है।

किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि इसके लिए ही क्या प्रमाण है कि नैतिक बोध वरण पर आधारित है? अधिकांश लोग नैतिक विधि-निषेध को श्रुति, स्मृति और सदाचार के उदाहरण पर ही आधारित मानते हैं। आंग्ल-अमरीकी अधिकांश दार्शनिक इसे रुचिमूलक और रुचियों को दैहिक रसायनमूलक या अभ्यासमूलक ही मानते हैं। अब, साधारणतः मनुष्य का यही रूप उपलब्ध होता है—कारण-कार्य-शृंखला में एक कड़ी। वह एक आनुवांशिकी के साथ और भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के अंग के रूप में ही संसार में उत्पन्न होता है जबकि स्वभाव स्व-प्रतिष्ठापन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को, स्व-कर्तृकता को पूर्वापेक्षित करता है। इस पूर्वापेक्षा में 'पूर्व' केवल आर्थी है, कालिक नहीं, कालिक रूप से तो कर्तृकता और स्वभाव युगपद् ही होते हैं। इसके लिए **तैत्तिरीय उपनिषद्** की अत्यन्त व्यंजक कल्पना की सहायता ली जा सकती है—"असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, स आत्मानं स्वयमकुरुत।" यहां 'अग्र' कालवाचक नहीं है। यदि यह समकालीन भौतिक विज्ञान की महद् विस्फोट की कल्पना के समान काल-वाचक हो भी तो भी सत् और उसके द्वारा आत्मसर्जन में कोई अनुक्रम अपेक्षित नहीं है, क्योंकि आत्मसर्जक सत् असत् से आत्मसर्जनपूर्वक ही उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य के संदर्भ में इसे जैव स्थिति से मानवीय स्थिति में उत्-पन्न होना कह सकते हैं। इस प्रकार स्व-भाव की यह प्रतिष्ठा स्व-भाव के वरण की, वरणपूर्वक संसारावतरण की, नामान्तर मात्र हो जाती है। अब, जो स्वभाव का इस प्रकार वरण कर सकता है वही नैतिक कर्त्ता हो सकता है।

यह ध्यातव्य है कि यहां 'नैतिक कर्त्ता' पद में 'नैतिक' का अर्थ संकुचित अर्थ में उचित आचरण, मॉरैलिटी, नहीं है, इसका अर्थ विवेकमय होना है। दूसरे शब्दों में **यह नैतिकता सत्यवचन में नहीं सत्यपरायणता में है, परोपकार करने में नहीं करुण और उदार होने में है, अर्थात् होने मात्र की विवेकपूर्वकता में**। इस प्रकार से मेरा दार्शनिक, कलाकार, वैज्ञानिक आदि होना भी होने की वरणपूर्वकता में सम्मिलित हो जाता है। इसमें दर्शन, विज्ञान या कला व्यवसाय नहीं मार्ग और साधना हो जाते हैं। 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' ('आत्मप्रियता') को इसी अर्थ में समझना चाहिए और 'श्रुति, स्मृति तथा सदाचार' का भी आधार या तो 'आत्मसाक्षात्कार' को ही समझना चाहिए या फिर इन्हें औचित्य की कसौटी के रूप में निरर्थक समझना चाहिए।

'नैतिकता' को इस व्यापक अर्थ में समझने पर अज्ञेय जी के प्रश्न में उठायी गई 'वरण की प्रामाणिकता' की बात का अर्थ भी समझा जा सकता है। प्रश्न में हमारे संसारावतरण को एक आगन्तुक घटना मानते हुए नैतिकता की प्रामाणिकता के अन्य स्रोत की जिज्ञासा की गई है। इसमें अस्तित्ववादी चिन्तन के अनुरूप ही, मनुष्य के संसारावतरण को उसकी जैविक उत्पत्ति के अर्थ में ही लिया गया है जो कि युक्त नहीं है, जैसाकि हमने पीछे देखा। किन्तु अज्ञेय जी के प्रश्न को ही आगे बढ़ाते हुए यह पूछा जा सकता है कि यदि हमारे जन्म के समय हमें अपने अवतरण के स्वरूप का वरण करने की योग्यता दे दी जाय तब हमारे उस वरण की प्रामाणिकता क्या होगी? यहां 'प्रमाण' का क्या अर्थ है? कार्ल यास्पर्स का उत्तर वास्तव में ही उत्तर नहीं है, किन्तु क्या अज्ञेय जी का प्रश्न सही प्रश्न है? इस प्रश्न का अर्थ पाने के लिए प्रामाणिकता के स्वरूप पर विचार आवश्यक होगा : भौतिक वस्तु के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और पीड़ा के लिए स्वयं पीड़ा का अनुभव ही प्रमाण होता है। इस प्रकार पीड़ा स्वतःप्रमाण और प्रत्यक्ष परतःप्रमाण हो जाता है। किन्तु 'मैं सुखी हूं' या 'मैं दुःखी हूं' इनकी प्रामाणिकता न प्रत्यक्ष-रूप होती है और न स्वतः, जैसाकि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बुद्ध के सर्व को दुःखमय कहने से और मनोविश्लेषकों के 'छद्म दुःख' और 'सुख-भ्रांति' आदि पदों के प्रयोग से देखा जा सकता है। कर्म की गति तो अत्यन्त गहन कही ही गई है, अर्थात् किसी कर्म की युक्तता का प्रमाण पाना अत्यन्त दुस्साध्य होता है। और अपने भाव के, स्व-भाव के, वरण का प्रामाण्य? वह कैसा होगा? उसे कहां ढूंढने जाएं?

अब, सबसे पहले तो यही निश्चित नहीं होता कि हमारा कोई कर्म वरणपूर्वक है या कि वासनाधीन अथवा संस्काराधीन है। यहां यह एक अलग प्रश्न हो सकता है कि वासना और संस्कार को 'पर' क्यों कहा जाय, 'स्व' क्यों नहीं कहा जाय? अज्ञेय जी और अस्तित्ववादियों से भिन्न हम यहां यह मानकर ही चलेंगे कि ये 'पर' ही होते हैं और इस प्रकार इनकी अधीनता पराधीनता ही होती है। अब, यह मान लेने पर कि काम या इच्छा 'पर' है क्या यह कहा जा सकता है कि इनसे मुक्ति ही स्वाधीनता है और यह स्वाधीनता ही वरण-योग्यता है? हमारे विचार में, यह कहा जा सकता है कि 'वासना और संस्कार से मुक्ति' और 'स्वाधीनता' एकार्थक पद हैं। इनके आगे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि 'स्वातन्त्र्य', 'वरण' और 'कर्म की नैतिकता का प्रामाण्य' ये भी एकार्थक पद ही हैं। वरण के इस प्रकार परिभाषित होने पर स्वभाव का वरण और कर्म का वरण एक ही हो जाते हैं और इनका प्रामाण्य इनके वरण होने में ही निहित हो जाता है।

अज्ञेय जी के प्रश्न को एक दूसरे अर्थ में भी समझा जा सकता है—कि यदि मनुष्य अपने जन्म का वरण नहीं करता, जैसाकि अस्तित्ववादी मानते हैं, तो इसके लिए क्या प्रमाण है कि वह आगे कभी करता है? जबकि नीतिशास्त्र इस पूर्वमान्यता पर ही आधारित है कि मनुष्य स्वतंत्रतः वरण कर सकता है। अस्तित्ववादी इसका उत्तर देते हैं कि 'क्योंकि मनुष्य का कोई अतीत नहीं होता, वह किसी स्वभाव से नियत नहीं होता जैसे गाय गोत्व-स्वभाव से नियत होती है, इसलिए वह सब समय चौराहे पर खड़े उस व्यक्ति के समान होता है जिसका कोई पूर्वनियत गन्तव्य नहीं है और न जिसे गन्तव्य विषयक कोई निर्देश या संकेत प्राप्त है। इसीमें उसकी स्वतंत्रता है कि वह चाहे जिधर भी चल दे, और ऐसे में वह जिधर भी चलेगा वह मार्ग युक्त मार्ग होगा। उसके वरण के प्रामाणिक होने के लिए केवल इतनी ही शर्त है कि वह चले अपने ही मन से, किसी की अँगुली पकड़ कर नहीं।' यह उत्तर एकदम बुद्ध के 'अप्प दीपो भव' और मनु के 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' का अनुवाद कहा जा सकता था यदि अस्तित्ववाद में अनात्म विषयक कोई विचार होता, जो दुर्भाग्यवश उसमें नहीं है। इसीलिए उसमें 'ऑथंटिसिटी', : प्रामाणिकता : के लिए शर्त केवल अपनी इच्छा का अव्यवहित ज्ञान होना, अथवा कहें अपनी इच्छा के साथ अव्यवहितत्व होना मात्र है। इसमें प्रतिबन्धक केवल वे प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) का लगाते हैं, अर्थात् इच्छानुसार कुछ कर लेनें पर उसके फल से, उसके उत्तरदायित्व से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं भागना। किन्तु इस प्रतिबन्धक के लिए युक्ति क्या है, 'क्यों मैं अपने किसी कर्म का उत्तरदायित्व ढोऊं?' इसके लिए अस्तित्ववाद के पास कोई उत्तर है, ऐसा मुझे नहीं पता।

अब देखें कार्ल यास्पर्स के उत्तर का कुछ अर्थ बन सकता है या नहीं? यद्यपि अज्ञेयजी ने उसे 'उत्तर' स्वीकार नहीं किया, टालना ही कहा है, किन्तु शायद यह एकदम से टालना नहीं है। केवल यह उत्तर स्पष्ट और निश्चित शब्दों में नहीं है। इसका स्पष्ट और निश्चित अर्थ क्या हो सकता है?

'लेखक' का यहां अर्थ साहित्यिक लेखक (कवि, कहानीकार, उपन्यासकार) से है। इनका रास्ता दार्शनिक के रास्ते से किन्हीं विशेष बिन्दुओं पर अलग नहीं होता, यह मूल में ही अलग होता है। और प्रस्तुत प्रश्न पर इनके रास्तों की भिन्नता विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक—विचारक—की अभिवृत्ति विषयनिष्ठ तटस्थ प्रेक्षक की होती है और इसके विपरीत साहित्यिक—कलाकार—की अभिवृत्ति तदात्म यद्यपि उन्मग्न भोक्ता की। अब, कथाकार विभिन्न पात्रों के माध्यम से विभिन्न संसारावतरणों, संसार में अपने को लाने के विभिन्न कर्मों, के वरण का अन्तःसाक्षात्कार करता है, उन्हें रच कर उनमें पर-काय प्रवेश करता है, अथवा अपने ही को नये सिरे से रचता और उस रचना को भोगता है। दार्शनिक न तदात्म होता है, न वरण करता है और न कर्म करता है, वह इन के तत्त्व को तटस्थ रह कर समझने का उपक्रम करता है। यहां यह विवाद का विषय हो सकता है कि ज्ञान का कौन सा मार्ग सही मार्ग है, भाव-तादात्म्य का या कि तटस्थ प्रेक्षण का? द्रष्टव्य है अज्ञेय जी का प्रश्न दूसरे मार्ग का प्रश्न है, पहले मार्ग पर से कोई प्रश्न किया ही नहीं जा सकता।

पुनश्चः

वरण के प्रश्न पर हमने जो ऊपर विचार किया उस पर आपत्ति हो सकती है कि उसमें जीवन की ठोस वास्तविकता को पारिभाषिकता से झुठला-सा दिया गया है। मेरे एक मित्र का अभी पत्र मिला जिसमें उन्होंने लिखा है, "कभी-कभी लगता है कि जीवन का अर्थ पैदा होना, पैदा करना फिर रिटायर होकर व्यर्थ ही जीवन से चिपटे रहने की कोशिश में लगे रहना ही है क्या? यहां अपने वश में क्या है? संयोग है किसी माता-पिता विशेष का बच्चा होना, किसी का भाई, पति, मित्र, पड़ौसी होना आदि . . हम स्वयं क्या चुन सकते हैं?" . . . आदि। यह एक ऐसी मनोदशा-बोधदशा है जो आज के इस अनास्था के युग में प्रायः सभी प्रबुद्ध जनों को जीवन के अन्तिम पड़ाव में आ घेरती है। हम प्रति पद पर महसूस करते हैं कि हम जो हैं वह नहीं भी होते, कुछ और ही होते, या होते ही नहीं। हमारी अभीष्ट, अनभीष्ट और विपरीत तीनों प्रकार की स्थितियाँ हमारी अपनी बनायी या लायी हुई नहीं हैं। हम कहां और कब जन्मे, किसके यहां और किनके बीच जन्मे, कैसा रूप-रंग, मस्तिष्क और आमाशय आदि पाये, यह कुछ भी हमारे बस में नहीं होता। इस स्थिति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का यह निरूपण कि "हम संसार के चौहराहे पर स्वयं चुनने के लिए छोड़ दिए गए हैं" ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सब, जो हमें हमारे मांगे और चाहे बिना मिलता है, हमारा आन्तरतः और बाह्यतः, दोनों स्तरों पर निर्धारण और अवरोधन करता है। हम एक ही ओर चलने को लगभग बाध्य होते हैं।

यहाँ एक विचित्र विरोधाभास की स्थिति बनती है : यह सब निर्धारक स्थिति जिस 'हम' की होती है वह एक ओर इन निर्धारणों का विषय होता है, इन स्थितियों का समवाय होता है और दूसरी ओर इनसे अतीत इनका दर्शक होता है। यह विचारणीय है कि एक उत्कंठित व्यक्ति उत्कंठा से बाह्यतः सम्बद्ध होता है या कि आंतरतः घटित होता है? उसके जन्म का स्थान और काल उसके अस्तित्व की बाह्य और आगन्तुक घटनाएं होती हैं या कि उसकी आन्तर घटक, उसके अस्तित्व में अंगभूत होती हैं? यहां संभवतः सब कहना चाहेंगे कि इनमें से कुछ स्थितियां और घटनाएं अन्तरंग होती हैं और कुछ बाह्य। जैसे हमारा रंग-रूप, हमारा पड़ोस आदि आगन्तुक होते हैं और हमारा बुद्धिमान या मंदबुद्धि होना आदि हमारे अन्तरंग होते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति को योग्यता और परिवेश का संयुक्त प्रतिफल माना जाय तो कुछ भी उसके बाहर नहीं रह जाता, पड़ोस भी नहीं। यदि मैं अपने पड़ोसी से घृणा के कारण उससे छुटकारा पाने के लिए मकान बदल लेता हूं तो मैंने उससे प्रकटतः तो छुटकारा पा लिया, किन्तु मुझे उसने आवेगात्मक स्तर पर अपनी विद्यमानता से घटित सिद्ध कर दिया, अपने सम्मुख मेरी बेबसी सिद्ध कर दी। दूसरी ओर, उसका मेरे पड़ोस में होना मेरे चाहने-नहीं चाहने से बिल्कुल स्वतंत्र रूप से घटित होता है और यह आगंतुकता मेरी नितान्त परवशता है कि अमुक मेरा पड़ोसी है या नहीं!

यहां यह द्रष्टव्य है कि ये सारे संदर्भ **चाहने** के हैं, वरण के नहीं। मेरा जन्म 26 जून, 1928 को मेरे ननिहाल फिरोज़पुर में मेरी **इच्छा** से नहीं हुआ या कि मेरे **वरण** से नहीं हुआ? पूछा जा सकता है कि यहां इच्छा और वरण दोनों के लिए ही अवकाश कहां है? हम जन्म से पहले तो थे ही नहीं, जब जन्मे तब हुए, 'हम' तो हम तब भी नहीं हुए, तब हम जन्मने की इच्छा या अनिच्छा कर ही कैसे सकते थे? इसका समाधान हो सकता है कि, निश्चय ही यहां हमारी इच्छा या अनिच्छा किसी का प्रसंग उपस्थित नहीं होता किन्तु जन्म के इस देश-काल ने मेरे लिए हानि-लाभों की कुछ ऐसी अनिवार्य परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं जिनके लिए मैं सोच सकता हूँ कि यदि मेरे वश में होता तो मैं उस समय जन्म नहीं लेकर पहले या बाद में जन्म लेता, अथवा यह भी सोच सकता हूँ कि जन्म लेता ही नहीं। यह पश्चोन्मुख इच्छा इस विचार को अर्थवान् बनाती है कि 'मैं कोई अपनी इच्छा से पैदा नहीं हुआ।' किन्तु 'मैंने अपने जन्म का या जन्म की परिस्थितियों का '**वरण नहीं किया**' इसका क्या अर्थ बनता है? जन्म के समय का वरण करने के लिए आधार क्या होता? क्या वही आधार होता जो इच्छा करने का होता? इसी प्रकार अपने रूप,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपने परिवेश आदि के सम्बन्ध में भी वरण का प्रसंग नहीं बनता। क्यों मैं उससे भिन्न रूप या आकार का वरण करता जो रूप और आकार मेरा है? वास्तव में वरण का प्रसंग केवल परिस्थितियों के प्रति अभिवृत्तियों के सम्बन्ध में उपस्थित होता है, परिस्थितियों के प्रति नहीं। अब यदि हमारी इच्छाओं को ऐसा बल मिल जाय कि हमारा जीवन उनके अनुसार ही घटित हो, तो उससे जो अनर्थ हो सकता है, उसकी कल्पना करना भी भयावह होगा।

किन्तु यहां एक दूसरा रोचक और आधारभूत प्रश्न उपस्थित होता है, कि अपने होने के प्रकार और परिस्थितियों से पृथक् यदि हम कुछ हों तभी इनके सम्बन्ध में कुछ इच्छा कर सकते हैं। इसी प्रकार, यदि हम अपनी अभिवृत्तियों से पृथक् कुछ हों तभी उनके वरण या परित्याग का कुछ अर्थ बनता है! **अब, यदि हम अपनी परिस्थितियों और अभिवृत्तियों से पृथक् कुछ होते हैं तो स्वातंत्र्य की सिद्धि क्या इसीमें नहीं है कि हम इन परताओं से अपने को मुक्त कर स्वत्व में अपने को प्रतिष्ठित करें और इन परत्वों पर अधिष्ठातृत्व स्थापित करें?**

यह मुक्ति अत्यधिक दुस्साध्य है, यह तो सही है, किन्तु तब इच्छा-बल की इच्छा तो हमें केवल अनेष्य स्थितियों और पारतंत्र्य में ही धकेल सकती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि अज्ञेय जी का, अस्तित्ववादियों का और मेरे मित्र का यह प्रश्न एक उद्विग्नता से प्रेरित है जिससे आज का संपूर्ण प्रबुद्ध वर्ग ग्रसित है। इस उद्विग्नता का कारण दार्शनिक अनास्था है। आज हमने ईश्वर की हत्या कर दी है जो जीवन की एषणाओं की निरर्थकता से उबरे मनुष्य को आश्रय देता था, उस परिवार और समाज की भी हत्या कर दी है जो एषणाओं से नहीं उबरने वालों की एषणाओं के अर्थ का धारण करता था। अब यह तत्त्व-मीमांसीय निर्णय का प्रश्न है कि इनमें से कौन सी दृष्टि युक्त है या कि इन दोनों से भिन्न कोई तीसरी दृष्टि युक्त है?

मुकुंद लाठ

वरण का प्रश्न क्या इच्छा का प्रश्न है?

अगर प्रश्न इच्छा का हो तो यदृच्छा की जो विडम्बना प्रश्न में खटक रही है, उसका कोई किनारा नहीं दिखाई देता। क्योंकि इच्छा अपने आप में यदृच्छामयी है। किसी इच्छा का होना उतना ही आगन्तुक है जितना हमारा पृथ्वी पर होना। विवेक अगर आधार ढूंढे तो समझ में आता है, इच्छा भी आधार ढूंढे तो फिर इच्छा क्या हुई?

अज्ञेय जी ने पृथ्वी पर आने को आगन्तुक कहना चाहा है। 'आना' न कहकर 'होना' ही कहना चाहिये, क्योंकि 'आना' कहने में यह निहित है कि हम जैसे हैं वैसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ही कहीं और थे, और अपनी इच्छा के बिना आये हैं; आये नहीं हैं, लाये गये हैं। या उन्हीं के शब्दों में: 'पार्थिक जीवन का हमने वरण नहीं किया।' किसी ने जैसे हमारे बिन चाहे ही हमें भेज दिया है, और यों जबरन भेज कर अब कहता है कि 'ले बेटा, वरण कर, चाहे या न चाहे, पर वरण कर। यह अब तेरा कर्त्तव्य है।' इच्छा बिना आने की यह बात स्पष्ट ही एक पूर्वाग्रह छुपाये है। हमारे विगत-आगत को किसी अन्याय के रूप में ढालता हुआ एक नियति-चित्र इस बात की ओट में खड़ा है।

प्रतिप्रश्न उठता है कि इस चित्र का प्रमाण क्या? सच पूछें तो जिस विगत की बात हो रही है वैसे किसी भी विगत के लिये 'प्रमाण' क्या होगा? आर्ष-वचन? पर ऐसे प्रमाण पर ही तो प्रश्न का आक्षेप है।

प्रश्न को शायद यों रक्खा जा सकता है: हमारा यहाँ होना, हम जैसे हैं हमारा वैसा होना आगन्तुक है। हम नहीं भी हो सकते थे! पर हैं तो किसी अर्थ में स्वतन्त्र हैं। कर्म भी करते हैं, और उसके लिये वरण भी। वरण स्वतन्त्र कर्म है, उसका संबंध स्वेच्छा से होना चाहिये, पर क्या हम अपनी इच्छा से वरण कर सकते हैं?

प्रश्न के इस रूप में भी एक विडम्बना की बात है। मैं समझता हूँ विडम्वना वास्तव में यही है। और प्रश्नकर्त्ता के मन में भी जो गुत्थी है, यही है। वरण का संबंध इच्छा से होना चाहिये, पर वह कर्म जिसे नीतिशास्त्र से जोड़ा जाता है, जहाँ इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न होता है, वहाँ वरण हम अपनी इच्छा से नहीं कर पाते; वरण का आधार ढूंढते हैं। किसी 'प्रामाणिक' इच्छा की खोज करते हैं, जो होनी चाहिये पर होती नहीं है, और यह खोज वरण को यदृच्छा के परे अनिच्छा की ओर ले जाती है।

यों विचार करें तो इच्छा और वरण दो भिन्न प्रकार के तत्त्व ठहरते जान पड़ते हैं। जबकि जिस प्रश्न की हम चर्चा कर रहे हैं वह इच्छा को वरण का—नैतिक वरण का भी—आधार मानता हुआ दोनों को एक ही तत्त्व के अन्तर्गत रखना चाहता है, और यों एक पहेली खड़ी कर देता है।

नैतिक वरण का संबंध औचित्य से है: वरण उचित होना चाहिये; किसी कर्म के करने-न करने में 'वरण' की बात ही तब उठती है जब औचित्य का प्रश्न हो। पर इच्छा अपने-आप में उचित-अनुचित नहीं होती, नैतिक संदर्भ में ही होती है, और तब इच्छा के भी वरण का प्रश्न उठता है।

वरण का संबंध स्वातन्त्र्य से है, और हम अकसर स्वेच्छा और स्वातन्त्र्य को पर्याय मान लेते हैं। हमारी चर्चा के प्रश्न में भी यही ध्वनि है। पर इतिकर्त्तव्य के वरण में जिस स्वातन्त्र्य की बात होती है उसका संबंध इच्छा से नहीं विवेक से है (या कोई और नाम दे लीजिये); यह संबंध ऐसी वृत्ति से है जो औचित्य का संधान करती है। विवेक का स्वातन्त्र्य से क्या संबंध है? यह प्रश्न और है। प्रश्न हो सकता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि क्या विवेक का हम वरण करते हैं? पर विवेक के 'वरण' की बात ही अटपटी लगती है।

शायद यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या अपने विवेक से हम यहाँ पृथ्वी पर आये हैं? पर प्रश्न का कोई उत्तर बनता नहीं दीखता। या प्रश्न को यों रखिये: हम अगर औचित्य-संधानी हैं तो हमारे होने का क्या औचित्य है? इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है? यह औचित्य का औचित्य ढूंढ़ने की बात है। उत्तर दें ही तो एक चक्रक सा उत्तर हो सकता है: हम औचित्य-संधानी हैं इसलिये हमारा होना उचित है।

प्रश्न होगा कि फिर मृत्यु क्यों होती है? मृत्यु का प्रश्न भी पहेली है, और शायद जन्म से अधिक पहेली है। मृत्यु की बात मन में रख कर सोचने लगें तो वरण और इच्छा का एक और भेद उभरता है, और उचित-अनुचित की एक कड़वी-तीखी गुत्थी भी। कहना न होगा कि मृत्यु की इच्छा और मृत्यु के वरण में गहरा अंतर है। यह जानते हुए भी कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, और यह मानते हुए कि मृत्यु की अवस्था—अगर उसे 'अवस्था' या ऐसा कुछ भी कहा जा सकता हो— अज्ञेय है, और तब भी मृत्यु की इच्छा को हम स्वाभाविक मान भी लें तब भी, उसे वरेण्य की कोटि में नहीं रख सकते।

एक बात और देखिये, जो बात इच्छा को वरण से अलग करती हुई वरण को नैतिक कोटि में रखती है। (शब्द यहाँ 'धर्म' होना चाहिये, 'नीति' नहीं; नीति का धर्म से वैसा ही भेद है जैसा 'इच्छा' का 'वरण' से, पर अज्ञेय जी की बात रखता हुआ 'नैतिक' का प्रयोग कर रहा हूँ)। जिस बात की ओर इंगित कर रहा हूँ वह यह है: हम अपनी मृत्यु की इच्छा करें और उसे कर्म में उतारें तो चलिये इसे कभी वरण का नाम दे भी सकते हैं, पर किसी दूसरे की मृत्यु चाहें—उसकी इच्छा करें—तो क्या इसे वरण कह सकते हैं? कहें तो हम युद्ध में और हत्या में अंतर नहीं कर सकते।

जो लोग यह अंतर नहीं करेंगे, उनमें दो तरह के लोग हो सकते हैं: एक वे जो युद्ध को आवश्यक-अनावश्यक जैसी किसी कोटि में रख भी लें, उसे औचित्य की कोटि में रखेंगे ही नहीं। उसे वरेण्य कभी नहीं मानेंगे। ऐसे लोगों के लिये अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा के बिना धर्म की—यहाँ जिसे हम नैतिकता कह रहे हैं, उसकी—कोटि बन ही नहीं सकती। उनके लिये मृत्यु की इच्छा—अपनी नहीं सही, किसी और की मृत्यु की इच्छा—तो 'वरण' की पंगत में बैठ ही नहीं सकती। दूसरे ऐसे लोग हैं जो धर्म को ही आवश्यक-अनावश्यक जैसी कोटि में रखना ठीक समझते हैं। उसकी अलग कोटि नहीं बनाते। ऐसे लोगों के लिये इच्छा और वरण में कोई तत्त्व का भेद नहीं हो सकता। हाँ, प्रश्न होता है कि क्योंकि इच्छा दूसरे की भी होती है, और हम दोनों ही एक दूसरे का वध करना चाह सकते हैं तो क्यों न करें?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक आजकल बड़ा जानामाना उत्तर है: क्योंकि इससे दोनों की इच्छापूर्त्ति में बाधा आयेगी। दूसरे को मारने की इच्छा तो सांसत में पड़ेगी ही—आखिर दूसरा भी तो हमें मार सकता है, या उस जैसा कोई और! इतना ही नहीं, मारने की इच्छा ही नहीं, दूसरी और ढेर सारी इच्छायें भी सांसत में पड़ जायेंगी। मृत्यु के कवल में आ जायेंगी। इसलिये— इच्छापूर्त्ति के लिये ही—ऐसी नीति अपनानी चाहिये, ऐसी नीति-व्यवस्था अपनानी चाहिये कि सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की कम से कम इच्छाओं का हनन हो। नीति का वह पलड़ा जो इस गिनती को नियन्त्रण में रखे वही अच्छा है, क्योंकि वह सबकी इच्छाओं को—और सब इच्छाओं को—तुला पर बराबर रखता है। क्या वह बात गिनती की बात भी है? और क्या ऐसी कोई तुला हो भी सकती है? यह प्रश्न और है, और यहाँ अवान्तर। पर साफ है कि ऐसे लोगों के लिये इच्छा और वरण में कोई भेद नहीं है। भेद आवश्यक-अनावश्यक का ही हो सकता है, उचित-अनुचित का नहीं।

पर धर्म के प्रश्न को पूरी तरह नीति में उतार दें, ऐसा भी कोई पूरी तरह से नहीं होता। जो पूरी तरह से होगा, उसके लिये दूसरे की इच्छा भी पूरे या न पूरे, यह प्रश्न वहीं तक उठेगा जहाँ तक उसकी अपनी इच्छा में दूसरे की इच्छा बाधक या साधक हो। वह ऐसी नीति ढूंढेगा कि बाधक बिना अपने को आँच आये मिट जाये, और साधक को अपने स्वार्थ में बढ़ाया जा सके। वैसे यह बात भी विशुद्ध इच्छा की नहीं होगी, बुद्धि की, किसी तरह के स्थिर संकल्प की बात होगी। इच्छा तो अब आई अब गई। धर्म की ही नहीं, नीति की भी इच्छा का होना, यह इच्छा की धारणा के साथ ही अनाचार लगता है। और फिर सब की इच्छापूर्त्ति, सब की मिला कर गिनती में ज्यादा से ज्यादा इच्छाओं की पूर्त्ति, उसके लिये ठीक व्यवस्था को खोजना-साधना, यह तो विशुद्ध नीति की बात भी होती नहीं लगती है। इस पर धर्म की आँच है।

पर जो ऐसे प्रश्नों से परेशान होते हैं, जैसा प्रश्न कि अज्ञेय जी ने उठाया है, उनके लिये युद्ध वरण की विभीषिका-भरी पहेली उठा दे सकता है। धर्मयुद्ध भी हो सकते हैं इसलिये युद्ध के 'वरण' की भी बात उठती ही है, और हम यह भी कह सकते हैं कि हमने युद्ध में मृत्यु का वरण किया। पर दूसरा, जिसे हम मार रहे हैं, या 'खेत कर रहे हैं' उसके लिये क्या कहेंगे? दूसरे की मृत्यु इच्छा की बात तो हो सकती है, पर युद्ध जैसी परिस्थिति में क्या उसको वरण जैसा कोई नाम दे भी सकते हैं? बात परेशान ही कर सकती है। यों भी किसी और के लिये किसी भी वरण की बात अपने-आप में ही, किसी और के लिये कुछ चाहने से बिल्कुल अलग है। यह इच्छा और वरण का भेद उभार देती है। किसी की मृत्यु की तो बात ही क्या। किसी की मृत्यु आसन्न हो, कष्ट पा रहा हो, या दे रहा हो, सुध-बुध खोये हो, और यह इच्छा या वरण की स्थिति में न हो तो उसे जिलाये रखने की चेष्टा से विरति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को शायद वरण का नाम दिया भी जा सकता है, लेकिन युद्ध जैसी बात का होना, जो मनुष्य की स्वभाव-स्थिति को ही अवरेण्य सा बना देता है, ऐसी अवस्था में दूसरे की मृत्यु को किसी कारण से भी चाहा जाये, 'कर्त्तव्य' के रूप में ही चाहा जाये, तो भी उसे क्या सचमुच वरेण्य कह सकेंगे? पर परेशानी जैसी भी हो, इच्छ की नहीं है। विवेक जैसी ही किसी वृत्ति की है। युद्ध-क्षेत्र में विवेक भी विडम्बना के बोध में उलझ कर उचित और अनुचित के बीच त्रिशंकु सा होकर ग्लानि में धँस जा सकता है।

अज्ञेय जी अपने प्रश्न में यह मानकर चले हैं कि जन्म अवश्यम्भावी नहीं है, वह इच्छा-अनिच्छा का विषय हो सकता है। और शायद वरण-अवरण का भी—शायद अज्ञेय जी की ओर से हम यह भी जोड़ सकते हैं कि उसे वरण न करने का एक कारण यह है कि उसमें वरण के बोझ से हम बच नहीं सकते। पर मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, फिर मृत्यु क्यों वरण की जटिल समस्यायें जगाती है? जो मेरे लिये ही नहीं, दूसरे के लिये भी अवश्यम्भावी है, वह कुछ उधर या इधर खिसका दी जाये तो इसमें वरण-अवरण की समस्या क्या? अगर बात यह है कि जन्म और जीवन अपने-आप में वरेण्य हैं, तो जन्म के वरण न करने का क्या कारण बन सकता है? इच्छा? पर वह इच्छा क्या उचित होगी? जो लोग मृत्यु से परेशान होते हैं, उससे छुटकारा पाना चाहते हैं, वे जन्म और मृत्यु को युगनद्ध मानते हैं, और एक ही कोटि में रखते हैं। छुटकारा दोनों के ही अवरेण्य चक्र से पाना चाहते हैं।

दूसरे की बात उठी है तो एक बात और सोचिये। अपने जन्म और मृत्यु का हम इच्छा से संबंध सहज ही जोड़ लेते हैं, पर दूसरे की मृत्यु के साथ इच्छा-संबंध विवेक-विच्छिन्न हो जाता है। दूसरे की मृत्यु की इच्छा, यह बात ही विषम लगती है। अब जन्म को लीजिये। दूसरे की मृत्यु हम न चाहें, पर दूसरे का जन्म? यों लग सकता है कि इसका भी क्या प्रसंग उठता है। पर जीवनदान की बात तो हम करते हैं। किसी की जान बचा लेने को यह भी कहते हैं कि उसे नया जन्म दिया। संकेत स्पष्ट है: दूसरे की मृत्यु को अवरेण्य मानने के साथ, उस बात के भीतर ही, यह बात भी समाई है कि अपना न सही, दूसरे का जन्म काम्य है, वरेण्य है; ध्वनि यही है कि जन्म-मात्र वरेण्य है। हम अपने जन्म की इच्छा न करें, पर सोचिए, क्या हम दूसरों के लिए दूसरे नहीं होते और इस प्रकार हमारा जीवन वरेण्य और मृत्यु की कामना अवरेण्य नहीं हो जाती?

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

वरण को लेकर अज्ञेय ने यास्पर्स से जो प्रश्न किया वह 'डाज़ाइन' को एक विशेष रूप में ग्रहण करने पर उठता है। अस्तित्ववादी सन्दर्भ में 'डाज़ाइन' से मानवीय अस्तित्व अभिप्रेत है। जर्मन भाषा में साधारणतया इसका अर्थ 'अस्तित्व' लिया जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। यदि 'डा' तथा 'ज़ाइन' को अलग-अलग कर अर्थ करें तव 'डाज़ाइन' का अर्थ होता है 'वह होना' या 'जो वहां है'। इस युग्म पद से एक अर्थ यह भी लिया गया है कि मनुष्य को मानो वहां 'छोड़ दिया गया' है। अब यहां एक ओर तो यह कहा जा सकता है कि मनुष्य वहां (जगत् में) अपनी इच्छा से नहीं है, उसे वहां छोड़ दिया गया है। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि उसके अस्तित्व में कुछ भी नियत नहीं है, उसके आधार में कोई अनिवार्यता परिलक्षित नहीं होती। अन्य शब्दों में, वह वहां जिस भी रूप में है, उससे वह आगे कुछ भी हो सकता है। लगता है, प्रश्न करते समय अज्ञेय के ध्यान में यह बाद की बात नहीं थी। तभी यह प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य अपने जन्म का वरण नहीं करता, तव वह अपने जीवन में भी स्वतन्त्र वरण कैसे कर सकता है?

इस प्रश्न में यह विचार सन्निहित प्रतीत होता है कि वरण की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना यह स्वीकार करना है कि मनुष्य वरण के लिए सदैव स्वतन्त्र होता है। यह स्वीकार करने पर ही 'जन्म के लिए स्वतन्त्र न होना', तथा 'जीवन में वरण की स्वतन्त्रता' में व्याघात होगा। यूं भी कहा जा सकता है कि एक बार वरण की स्वतन्त्रता से वंचित होना, सदा के लिए वरण की स्वतन्त्रता खो देना है।

अब यदि मानवीय सत्त्व का लक्षण स्वतन्त्र वरण की क्षमता या शक्यता के रूप में किया जाय तो ऐसी किसी स्थिति की कल्पना व्याघाती होगी जिसमें मनुष्य वरण के लिए स्वतन्त्र न हो। सार्त्र तो लगभग इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। यदि ताप अग्नि का लक्षण है तब अग्नि की किसी ऐसी अवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती जब वह ताप-रहित हो।

परन्तु मनुष्य का लक्षण करना तथा अग्नि का लक्षण करना एकदम समान स्थितियाँ नहीं हैं। 'अग्नि' का प्रयोग 'मनुष्य' की तरह किसी द्रव्य के रूप में किया जाता है, जब हम अग्नि के लक्षण की बात करते हैं। परन्तु उन्हें समान रूप में द्रव्य कहना भ्रामक है। वस्तुतः अग्नि को द्रव्य कहना ठीक नहीं लगता, वस्तुतः तो किसी द्रव्य में अग्नि की संभावना होती है। किसी द्रव्य को जलनशील कहा जा सकता है। उपयुक्त अवस्थाओं के उपलब्ध होने पर द्रव्य-विशेष जल सकता है, और तब ताप की अनुभूति भी होती है। किसी वस्तु का जलना तथा ताप देना, ये एक-साथ हो सकते हैं। जलना तथा ताप का उत्पन्न होना, एक साथ होने से यह कहना सार्थक है कि ऐसा नहीं हो सकता कि अग्नि हो और ताप नहीं हो।

अब, यदि लकड़ी के विषय में यह कहा जाय कि वह ज्वलनशील है, तब यह कहना आवश्यक नहीं होगा कि लकड़ी होना तथा उसका जलना युगपत् रूप में अनिवार्य हैं। इसके विपरीत यह भी संभव है कि लकड़ी तो हो परन्तु गीली होने के कारण ज्वलनशील होने पर भी जले नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ठीक उसी प्रकार मनुष्य को परिभाषित करते समय यदि प्रस्तावित हो कि वह तत्त्वतः वरण के लिए स्वतन्त्र है, तब यह कहने की अनिवार्यता नहीं रहती कि वह सक्रिय रूप में, सदैव स्वतन्त्र है। गीली लकड़ी के सदृश यह भी कहा जा सकता है कि उपयुक्त अवस्थाओं के अनुपलब्ध होने पर वह वरण के लिए अपने को परवश भी पाता है।

मनुष्य के लक्षण के सन्दर्भ में एक अन्य पक्ष की ओर भी ध्यान जाता है। प्रश्न उठता है कि 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग जीव की किस अवस्था से, अथवा उसकी किस अवस्था में, उपयुक्त माना जायगा? गर्भाधान पर गर्भ की आरम्भिक अवस्था में, भ्रूण की किसी अवस्था विशेष से, अथवा शिशु के जन्म पर, इत्यादि में से किस विशेष को 'मनुष्य' शब्द के प्रयोग के लिए उपयुक्त माना जाय?

जिन विशिष्टताओं अथवा कार्यों को ध्यान में रखकर मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग किया जाता है, उनमें से कुछ अथवा सभी, उसके वृद्धिशील जीवनवृत्त की किसी अवस्था में अनिवार्यतः, प्रदर्शित या निर्दिष्ट की जा सकें, यह आवश्यक नहीं। दूसरी ओर इस तथ्य को भी ध्यान में रखें कि गर्भ के आरम्भ से ही, जीव विशेष के सन्दर्भ में हम **'मनुष्य का गर्भ'** ऐसा प्रयोग करते हैं। वहीं से उसका जीवनवृत्त आरम्भ मान लिया जाता है। अन्य शब्दों में, हमारे सम्मुख दो बातें हैं : एक सन्दर्भ में, गर्भ से मृत्यु पर्यन्त अवस्थाएं मनुष्य के जीवन-वृत्त की अवस्थाएं हैं, दूसरे, यह संभव है कि उसके जीवनवृत्त की किसी अवस्था विशेष में हम उन विशेषताओं को लागू न कर पायें जिन्हें हम उसके लक्षण के अन्तर्गत रखते हैं। ये तथ्य वस्तुतः किसी भी वृद्धिशील अथवा सोद्देश्य रूप में गत्यात्मक विषय पर प्रयुक्त होते हैं।

इन तथ्यों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'मनुष्य होना' तथा 'वरण के लिए स्वतन्त्र होना' एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं, इस पर भी यह संभव है कि किसी अवसर पर कोई मनुष्य वरण के लिए स्वतन्त्र न हो। यदि हम इस विश्लेषण को स्वीकार कर लेते हैं, तब जन्म का वरण न कर पाने की अवस्था में भी. मनष्य वरण के लिए स्वतन्त्र होता है, ऐसा कहा जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्यायमंजरी

अनुवादक : सिद्धेश्वर भट्ट, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
शशिप्रभा कुमार, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

'प्रमाण' का सामान्य लक्षण

प्रमाणसामान्यलक्षणविभागसूत्रं त्ववसरप्राप्तत्वादिदानीमेव विव्रियते—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥1-1-3 ॥

किन्तु प्रमाण के सामान्य लक्षण और विभाग का निर्देश करने वाला सूत्र तो अवसरानुकूल होने के कारण अभी व्याख्यात किया जा रहा है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द — चार प्रमाण (न्यायशास्त्र में माने गये) हैं।

'प्रमाण' पदार्थ का विचार

अत्रेदं तावद्विचार्यते—किं प्रमाणं नाम? किमस्य स्वरूपम्? किं वा लक्षणमिति? ततः सूत्रं योजयिष्यते ॥

तदुच्यते—अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। बोधाबोधस्वभावा सामग्री हि तस्य स्वरूपम्। अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्।

अब यहां इस पर विचार किया जाना है कि प्रमाण क्या है? इसका स्वरूप क्या है? और लक्षण क्या है? इसके बाद (उसी के अनुसार) सूत्रों की योजना की जायेगी।

इसलिए बताया जा रहा है—"बोधाबोधस्वभाव[1] वाली वह सामग्री प्रमाण है जो अव्यभिचारिणी[2] और असन्दिग्ध[3] है तथा अर्थ (पदार्थ) का ज्ञान कराने वाली है !"(इनमें से) बोधाबोधस्वभाव वाली सामग्री उसका स्वरूप है और अव्यभिचारिणी आदि विशेषण तथा अर्थ की उपलब्धि का साधन होना उसका लक्षण[1] है।

'प्रमाण' पद की निरुक्ति का विचार और अतिशय के अधिकरण के बारे में पूर्वपक्ष की शंका

ननु च प्रमीयते येन, तत् प्रमाणमिति करणसाधनोऽयं प्रमाणशब्दः। करणं च साधकतमम्। तमबर्थ श्चातिशयः। स चापेक्षिकः। साधकान्तरसंभवे हि तदपेक्षयाऽतिशययोगात् किञ्चित्साधकतममुच्यते। सामग्र्याश्चैकत्वात् तदतिरिक्तसाधकान्तरानुपलम्भात् किमपेक्षमस्या अतिशयं ब्रूमः ॥

यहां यह कहा जा सकता है कि जिसके द्वारा अर्थ का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) होता है, वह प्रमाण है, और यह 'प्रमाण' शब्द करणरूपी साधन है। साधनों में जो सबसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अधिक सहायक होता है, वह करण है क्योंकि 'तमप्' प्रत्यय का अर्थ अतिशय (उत्कृष्टता) है और वह अतिशय सापेक्ष होता है, यानि अन्य साधनों के होने पर उनकी अपेक्षा अधिक सहायक होने से कोई साधन साधकतम कहा जाता है किन्तु सामग्री तो एक ही है और उसके अतिरिक्त कोई दूसरा साधन है नहीं, इसलिए उसका अतिशय किसकी तुलना में कहा जाये?

सामग्री की प्रमाणता के विषय में आक्षेप

अपि च कस्मिन् विषये सामग्र्याः प्रमाणत्वम्? प्रमीयमाणो हि कर्मभूतो विषयः सामग्र्यन्तर्भूतत्वात् सामग्र्येवेति करणतामेवयायात्। निरालम्बनाश्चेदानीं सर्वप्रमितयो भवेयुः, आलम्बनकारकस्य चक्षुरादिवत् प्रमाणान्तःपातित्वात्॥

कश्च सामग्र्या प्रमेयं प्रमिमीते? प्रमाताऽपि तस्यामेव लीनः। एवञ्च यदुच्यते 'प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति चतसृषु विधासु तत्त्वं परिसमाप्यते' इति, तद्व्याहन्यते। न च लोकोपि सामग्र्याः करणभावमनुमन्यते तस्यां करणविभक्तिमप्रयुञ्जानः। न ह्येवं वक्तारो भवन्ति लौकिकाः, सामग्र्या पश्याम इति; किन्तु दीपेन पश्यामः, चक्षुषा निरीक्षामह इत्याचक्षते। तस्मान्न सामग्री कारणम्, अकारणत्वाच्च न प्रमाणमिति नेदं साधु प्रमाणस्वरूपम्॥

और यह भी प्रश्न उठता है कि सामग्री का प्रमाणत्व किस विषय में होगा? क्योंकि जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाना है, वह विषय तो कर्मभूत है (कर्त्ता का अभीष्टतम होने से); किन्तु वह सामग्री में समाहित होने से सामग्री ही हो जायेगा और करण बन जायेगा। और इस भाँति सारी प्रमितियां (ज्ञान) निराश्रय हो जायेंगी (सब कुछ करण हो जाने से ज्ञान का कोई विषय नहीं रहेगा) क्योंकि आलम्बनरूप विषय चक्षु आदि के समान प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो जायेगा।

फिर सामग्री के द्वारा प्रमेय का ज्ञान भी कौन प्राप्त करेगा क्योंकि प्रमाता भी उसी सामग्री में लीन हो जायेगा। और इसी भाँति जो यह कहा जाता है कि 'प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति—इन चार प्रकारों में समस्त तत्त्व समाप्त हो जाते हैं—इस कथन का भी बाध होगा। लौकिक अनुभव भी सामग्री का करण में अन्तर्भाव नहीं मानता क्योंकि उस सामग्री में करण-कारक की विभक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। संसार में लोग ऐसा कहते नहीं दिखाई देते कि 'हम सामग्री के द्वारा देखते हैं' बल्कि ऐसा ही कहा जाता है कि 'हम दीपक के द्वारा देखते हैं' या 'आंखों के द्वारा देखते हैं'। इसलिए सामग्री करण नहीं है और करण न होने से प्रमाण भी नहीं है, अतः प्रमाण का उक्त स्वरूप ठीक नहीं है।

सामग्री के करणत्व के विषय में सिद्धान्तपक्ष

अत्रोच्यते—यत एव साधकतमं करणं, करणसाधनश्च प्रमाणशब्दः, तत एव सामग्र्याः प्रमाणत्वं युक्तम्; तद्व्यतिरेकेण कारकान्तरे क्वचिदपि तमबर्थसंस्पर्शानुपपत्तेः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनेककारकसन्निधाने कार्यं घटमानं अन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत्? न चातिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते, सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात्॥

सन्निपत्त्यजनकत्वमतिशय इति चेन्न-आरादुपकारकाणामपि कारकत्वानपायात्। ज्ञाने च जन्ये किमसन्निपत्यजनकम्? सर्वेषामिन्द्रियमनोऽर्थादीनामितरेतरसंसर्गे सति ज्ञाननिष्पत्तेः॥

इस पर सिद्धान्तपक्ष की ओर से बताया जा रहा है कि जिस तरह करण साधकतम होता है और करणरूप साधन प्रमाण शब्द से व्यक्त होता है, उसी तरह सामग्री का प्रमाण होना ठीक है; उसके बिना किसी भी दूसरे कारक में 'तमप्' प्रत्यय के अर्थ का प्रयोग अनुचित होगा (क्योंकि कारकों में से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् रूप से रहने पर भी कार्य सम्पन्न नहीं होता, उनकी समग्रता होते ही वह निष्पन्न हो जाता है, अतः वह समग्रता या सामग्री ही करण है, वही प्रमाण है)। अनेक कारकों (साक्षात् एवं परोक्ष) के एक साथ उपस्थित होने पर कार्य घटित होता है और किसी एक के हट जाने पर विघटित हो जाता है, तो फिर अतिशय किसमें कहेंगे? वैसे भी कार्य की उत्पत्ति में किसी एक कारण का अतिशय नहीं माना जाता क्योंकि उसमें सभी कारण व्यापृत (प्रयुक्त) होते हैं।

यदि कहा जाये कि उन सब कारणों का एक साथ मिलकर साक्षात् रूप से जनक होना ही[5] अतिशय है तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि परोक्ष रूप से या परंपरया सहायक होने वाले तत्त्व भी कारण हैं। पुनः प्रश्न होता है कि क्या ज्ञान की उत्पत्ति में सब कारण एक साथ मिलकर जनक नहीं होते? अतः ऐसी स्थिति में किसको साक्षात् कारक कहें और किसको परंपरया कारक कहें? उदाहरणार्थ इन्द्रिय, मन और अर्थ (विषय) आदि सभी तत्त्वों के परस्पर संसर्ग से ही (प्रत्यक्ष) ज्ञान की निष्पत्ति होती है (इनमें साक्षात् कार्योत्पादक और परंपरया कार्योत्पादक का भेद आसानी से नहीं किया जा सकता है)।

अथ सहसैव कार्यजननमतिशयः, सोऽपि कस्याञ्चिदवस्थायां करणस्येव कर्मणोऽपि शक्यते वक्तुं—यथा अविरलजलधरधाराप्रबन्धबद्धान्धकारनिवहे बहुलनिशीथे सहसैव स्फुरता विद्युल्लताऽऽलोकेन कामिनीज्ञानमादधानेन तज्जन्मनि सातिशयत्वमवाप्यते, एव मितरकारककदम्बसन्निधाने सत्यपि सीमन्तिनीमन्तरेण तद्दर्शनं न संपद्यते, आगतमात्रायामेव तस्यां भवतीति तदपि कर्मकारकमतिशययोगित्वात् करणं स्यात्॥

अब यदि यह कहा जावे कि कार्य की उत्पत्ति करने की क्षमता (अर्थात् जो कार्य का निकटस्थ पूर्ववर्ती या अव्यवहित कारण हो) ही अतिशय है तो किसी-किसी दशा में करण की भाँति कर्म के विषय में भी वह अतिशय मानना पड़ेगा जो उचित न होगा। (इसे एक दृष्टान्त द्वारा इस भाँति स्पष्ट किया जा सकता है कि) जैसे निरन्तर होने वाली मूसलाधार वर्षा के प्रवाह में घनघोर अन्धेरी रात के अन्धकार में अचानक चमकने वाली बिजली के प्रकाश से यदि किसी सुन्दरी स्त्री का दर्शन हो तो उस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज्ञान की उत्पत्ति में आलोक रूप करण सातिशयता प्राप्त करता है। इसी भाँति कभी-कभी अन्य सभी कारणों के समूह के उपस्थित होने पर भी उस सुन्दर स्त्री रूपी कर्म के बिना उसका दर्शन नहीं होता और उसके आते ही दर्शन हो जाता है तो वह स्त्रीरूप कर्मकारक भी अतिशय-युक्त होने के कारण करण होना चाहिए। (परन्तु ऐसा नहीं माना जाता है।)

तस्मात् फलोत्पादाविनाभाविस्वभावत्वमवश्यतया कार्यजनकत्वमतिशयः। स च सामग्र्यन्तर्गतस्य न कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते। सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः। सन्निहिता चेत् सामग्री संपन्नमेव फलमिति सैवातिशयवती॥

इसलिए फल (कार्य) की उत्पत्ति में अविनाभावी स्वभाव वाला होना और कार्य की उत्पत्ति में अनिवार्य रूप से जनक होना ही अतिशय है। और वह सामग्री में अन्तर्भूत होने वाले किसी एक कारण के विषय में नहीं कहा जा सकता, वह अतिशय सामग्री का ही कहा जा सकता है। यदि सामग्री समुपस्थित है तो फल सम्पन्न होता ही है, इसलिए वह सामग्री ही अतिशयवती होती है।

प्रमाता और प्रमेय में करणत्व नहीं होता

ननु मुख्ययोः प्रमातृप्रमेययोरपि तदविनाभावित्वमतिशयोऽस्त्येव, प्रमितिसम्बन्धमन्तरेण तयोस्तथात्वाभावात्। प्रमिणोतीति प्रमाता भवति, प्रमीयत इति च प्रमेयम्—सत्यमेतत्—किन्तु साकल्यप्रसादलब्धप्रमितिसम्बन्धनिबन्धनः प्रमातृप्रमेययोर्मुख्यस्वरूपलाभः। साकल्यापचये प्रमित्यभावात् गौणे प्रमातृप्रमेये संपद्येते। एवञ्च साकल्यमन्तरेण यदि प्रमितिरवकल्पेत भवेद्व्यभिचारः, न त्वसौ तथा दृश्यते इति प्रमित्यव्यभिचारात् साकल्यमेव सातिशयमिति तमबर्थयोगात् तदेव करणम्॥

पूर्वपक्ष की ओर से पुनः शंका होती है कि प्रमाता और प्रमेय जो ज्ञान की प्रक्रिया में प्रमुख होते हैं, उनका अविनाभावित्व (एक के बिना दूसरे का न पाया जाना) होने से उन दोनों में भी तो अतिशय होता ही है, क्योंकि प्रमिति-सम्बन्ध के बिना उन दोनों में वैसा अविनाभावित्व नहीं पाया जाता। (प्रमिति के साथ प्रमाता और प्रमेय का अविनाभावि संबंध होता है)।

इस पर सिद्धान्तपक्ष का समाधान है कि जो प्रमाणों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, वह प्रमाता होता है और जिसका प्रमाणों के द्वारा ज्ञान होता है, वह प्रमेय होतां है—यह बात तो ठीक है—परन्तु सामग्री की समग्रता प्राप्त होने पर प्रमिति उत्पन्न होती है और प्रमिति के सम्बन्ध से प्रमाता और प्रमेय की प्रमुखता निष्पन्न होती है। इसके विपरीत समग्रता के हटा लेने पर प्रमिति का अभाव हो जाता है और प्रमिति के वहां न रहने से प्रमाता और प्रमेय गौण हो जाते हैं। इस भांति साकल्य के बिना यदि प्रमिति की कल्पना की जाये तो व्यभिचार होगा, जबकि वैसा व्यभिचार तो दिखाई नहीं देता; इसलिए प्रमिति के साथ अव्यभिचार होने से उस साकल्य में ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सातिशयता है और 'तमप्' (साधकतम) अर्थ की संगति होने से वह साकल्य या सामग्री ही करण है।

सामग्री के स्वरूप का विचार

यत्तु किमपेक्षं सामग्र्याः करणत्वमिति-तत् अन्तर्गतकारकापेक्षमिति ब्रूमः। कारकाणां धर्मः सामग्री न स्वरूपहानाय तेषां कल्पते; साकल्यदशायामपि तत्स्वरूपप्रत्यभिज्ञानात्॥

ननु समग्रेभ्यः सामग्री भिन्ना चेत् कथं पृथङ्नोपलभ्यते? अभेदे तु सर्वकारकाणि करणीभूतान्येवेति कर्तृकर्मव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः — मैवम् — समग्रसन्निधानाख्यधर्मस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्।

और जो यह प्रश्न उठता है कि सामग्री का करणत्व किसकी अपेक्षा से है? तो उसका उत्तर हम यह कहकर देंगे कि उस सामग्री में विद्यमान कारकों की अपेक्षा से ही उसका करणत्व है। सामग्री (समग्राणां भावः सामग्री) कारकों का धर्म (क्रियान्वित करने वाला तत्त्व) है, वह उनके स्वरूप-नाश के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि साकल्य-दशा में भी उन तत्त्वों के स्वरूप की पहचान बनी रहती है।[6]

पुनः शंका होती है कि यदि सामग्री समग्र सन्निहित कारकों से भिन्न है तो उसकी पृथक् उपलब्धि क्यों नहीं होती? क्योंकि सामग्री में सब कारकों का अभेद मानने पर तो सभी कारक करणरूप हो जायेंगे और कर्त्ता, कर्म आदि के व्यवहार की समाप्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सन्निहित तत्त्वों में समग्रता (अर्थात् सामग्री के घटक रूप कारकों का सम्मिलन) नामक धर्म प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

पृथगवस्थितेषु हि स्थालीजलज्वलनतण्डुलादिषु न समग्रताप्रत्ययः, समुदितेषु तु भवतीत्यतः तन्तुपटलपरिघटितपटाद्यवयविवत् कारककलापनिष्पाद्यद्रव्यान्तराभावेऽपि समुदायात्मिका सामग्री विद्यत एवेति समुदाय्यपेक्षया करणतां प्रतिपद्यते। तस्मान्न परिचोदनीयमिदं कस्मिन् कर्मणि सामग्री करणमिति। समुदायिनां सामग्र्यवस्थायामपि स्वरूपानपायात् समुदायिविशेषे कर्मणि सामग्री करणम्। अत एव प्रमितेर्न निरालम्बनत्वम्॥

उदाहरण के लिए पृथक्-पृथक् रखे हुए पतीला, पानी, अग्नि और चावल के दानों में समग्रता की प्रतीति नहीं होती, किन्तु उनके मिल जाने पर होती है। इसीलिए तन्तुओं के ताने-बाने से बुने गये पट आदि अवयवी के समान कारकों के समूह से निष्पन्न होने वाले भिन्न कार्यद्रव्य के अभाव में भी समूहात्मक सामग्री तो रहती ही है, अतः समुदायी होने से वही करणता को प्राप्त कर लेती है। इसलिए यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि सामग्री का करणत्व किस कर्म में निहित है? (यहां 'कर्म' से आशय कारकों की क्रिया से है)। सामग्री में समवेत होने वाले तत्त्वों का स्वरूप समग्र-दशा में भी लुप्त नहीं होता,[7] इसलिए किसी विशिष्ट अवयवी की क्रिया में सन्निविष्ट सामग्री ही करण है। इसीलिए प्रमिति भी आलम्बनहीन नहीं होती (क्योंकि सामग्री में सन्निहित विषय उसका आलम्बन होता है)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एतेन प्रमात्रादिः पृथगुपदर्शित इति विधाचतुष्टयमपि समाहितम्।।

यत्त्वभ्यधायि सामग्र्याः करणविभक्तिनिर्देशो न दृश्यत इति—तत्रोच्यते—सामग्री हि संहतिः। सा हि संहन्यमानव्यतिरेकेण न व्यवहारपदवीमवतरति तेन सामग्र्या पश्यामीति न व्यपदेशः।।

इससे (समझ लेना चाहिए कि) प्रमाता आदि का पृथक् निर्देश कर दिया गया अर्थात् सामग्री में समाविष्ट कर्मकारक सामग्री दशा में जिस तरह अपने स्वरूप को छोड़ता है उसी तरह सामग्री में समाविष्ट कर्तृकारक (प्रमाता) भी सामग्री दशा में अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता और प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति इन चारों विधाओं का वर्णन भी हो गया। (भाव यह है कि सामग्री में सन्निहित इन चारों कारकों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है, किन्तु उन चारों का धर्म एक ही है—प्रमिति का जनक होना)।

जो यह कहा गया कि सामग्री के कारण की विभक्ति का निर्देश दिखाई नहीं देता, उस आक्षेप के विषय में सिद्धान्ती का समाधान है कि सामग्री 'संहति' (समुदाय) को कहते हैं और वह समवेत होने वाले तत्त्वों के बिना अनुभव नहीं की जा सकती। इसलिए ऐसा नहीं कहा जाता कि मैं सामग्री के द्वारा देखता हूँ। (अर्थात् सम्मिलित हुए तत्त्वों या कारकों को बताये बिना केवल सामग्री को तृतीया विभक्ति लगाकर वाक्य का प्रयोग करने पर कुछ समझ नहीं आवेगा अतः उन कारकों को तृतीया विभक्ति लगाई जाती है)।

यस्तु दीपेन्द्रियाणां तृतीयानिर्देशः, स फलोपजननाविना-भाविस्वभावत्वाख्य-सामग्रीसरूपसमारोपणनिबन्धनः। अन्यत्रापि च तद्रूपसमारोपेण स्थाल्या पचतीति व्यपदेशो दृश्यते एव। तस्मादन्तर्गतकारकापेक्षया लब्धकरणभावा सामग्री प्रमाणम्।।

जो दीपक और (चक्षु आदि) इन्द्रियों में तृतीया विभक्ति का निर्देश किया जाता है (जैसे मैं दीपक से देखता हूँ या आंख से देखता हूँ आदि), वह प्रत्यक्ष ज्ञानरूप फल की उत्पत्ति में अविनाभावी स्वरूप वाला होता है, इसलिए (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के आधार पर) सामग्री के सदृश व्यवहार का आरोप उस एक तत्त्व पर कर देते हैं। इसी भांति अन्य स्थलों पर भी उस एक प्रधान तत्त्व का समारोप देखा जाता है, जब हम कहते हैं कि 'पतीले में पका रहा है, (यद्यपि जल, अग्नि, तण्डुल आदि अन्य कारक भी पाक में सहायक हैं)। इसलिए अन्तर्भूत कारकों के आधार पर जिसे करणत्व की प्राप्ति होती है, ऐसी सामग्री ही प्रमाण कही जाती है (यह सिद्धान्त मत है)।

अपरे पुनराचक्षते—सामग्री नाम समुदितानि कारकाणि। तेषां द्वैरूप्यमहृदयङ्गमम्। अथ च तान्येव पृथगवस्थितानि कर्मादिभावं भजन्ते, अथ च तान्येव समुदितानि करणीभवन्तीति कोऽयं नयः? तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तम् अव्यभिचारादि-विशेषणकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते। तदेव तृतीयया व्यपदिशन्ति- दीपेन पश्यामि, चक्षुषा निरीक्षे, लिङ्गेन बुद्ध्ये, शब्देन जानामि, मनसा निश्चिनोमीति।।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ननु त्रीण्येव कारकाण्यस्मिन् पक्षे भवेयुः—ज्ञानक्रियायां तावत् एवमेवैतत्, यथा भवानाह। पाकादिक्रियासु क्रियाश्रयधारणाद्युपकारभेदपर्यालोचनया भवत्वधिकरणादि-कारकान्तरव्यवहारः। प्रमितौ तु मनोदीपचक्षुरादेः न लक्ष्यते विशेष इति तत्सर्वं करणत्वेन सम्मतम्॥

कुछ अन्य (पूर्वपक्षी) लोग आक्षेप करते हैं कि सामग्री तो समवेत कारकों को ही कहते हैं, किन्तु उन कारकों का द्विविधत्व बुद्धिगम्य नहीं है। और फिर आप (सिद्धान्ती) कहते हैं कि वे कारक पृथक्-पृथक् रहकर कर्म आदि के स्वरूप को प्राप्त करते हैं और वे ही समवेत होने पर करण वन जाते हैं (अर्थात् व्यक्तिगत रूप में तो वे करणस्वरूप नहीं होते हैं परन्तु वे ही जव सम्मिलित हो जाते हैं तब करणस्वरूप हो जाते हैं।)—यह कौन सा तरीका है? इसलिए (आपको यह कहना चाहिए कि) कर्त्ता और कर्म से पृथक् 'अव्यभिचारि' आदि पूर्वोक्त विशेषणों वाला, अर्थ की प्रमा (विषय-ज्ञान) का जनक कारक करण कहा जाता है। उसी का तृतीया विभक्तिं से निर्देश किया जाता है, जैसे—दीपक से देखता हूँ, आंख से देखता हूँ, हेतु के द्वारा अनुमान करता हूँ, शब्द से जानता हूँ, मन से निश्चय करता हूँ इत्यादि।

इस पर नैयायिक की ओर से कहा जा सकता है कि इस दृष्टि से तो ज्ञान की प्रक्रिया में तीन ही कारक होंगे—कर्ता, कर्म और करण। पूर्वपक्षी का कथन है कि ठीक है, ज्ञान-प्रक्रिया में ऐसा ही स्वीकार्य है, जैसा आप कहते हैं। क्योंकि पाकादि क्रियाओं में तो क्रिया के आश्रयभूत साधारण कारण के रूप में अनेक सहायक कारणों का विचार करने पर अधिकरण आदि अन्य कारकों का व्यवहार होता है। किन्तु प्रमिति में तो (कर्त्ता और कर्म के अतिरिक्त) मन, दीप और चक्षु आदि में कोई विशेषता दिखाई नहीं देती, इसलिए इन सबको करण माना गया है।

कस्तेषु तमबर्थ इति चेत्? अस्ति कश्चित्—यदयं लोकः 'अहं मया जानामि' 'घटेन घटं जानामि' इति न कर्त्तृकर्मणी विस्मृत्यापि करणत्वेन व्यपदिशति, नयनमनोदीपशब्दलिङ्गानि तु तथा व्यपदिशति; सोऽयमेषां पश्यति कर्त्तृकर्मवैलक्षण्ये चक्षुरादीनाम्। तद्वैलक्षण्यमेव च तेषामतिशय इति। तदयमिह प्रमाणं, प्रमाता, प्रमेयं, प्रमितिरिति चतुर्वर्ग एव व्यवहारः परिसमाप्यते। तस्मात् कर्त्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणमिति युक्तम॥

यदि पूछा जाये कि इनमें से 'तमप्' अर्थ वाला (अतिशयित कारण) कौन सा है? तो उत्तर होगा कि कोई भी व्यक्ति इस संसार में भूलकर भी कर्ता और कर्म का करण रूप में इस भांति निर्देश नहीं करता कि 'मैं अपने को अपने द्वारा जानता हूँ' या 'घट को घट के द्वारा जानता हूँ'—जबकि नेत्र, मन, दीप, शब्द, लिङ्ग आदि कारणों का तो करण रूप में व्यवहार किया ही जाता है। इसलिए चक्षु आदि (कारणों) की कर्त्ता और कर्म से विलक्षणता (लौकिक अनुभव में) दिखाई देती है और वह विलक्षणता (विशिष्टता) ही उनका अतिशय है। अतः यहां प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमिति इस चतुर्वर्ग में ही व्यवहार की परिसमाप्ति हो जाती है। इस कारण कर्ता और कर्म से भिन्न, संशय और विपर्यय से रहित, विषयज्ञान की प्रतिपादिका, बोधाबोध स्वभाववाली सामग्री ही प्रमाण है, यह सिद्धान्तमत समीचीन (सिद्ध होता) है।

बौद्ध-सम्मत प्रमाण-स्वरूप का निराकरण

य तु बोधस्यैव प्रमाणत्वमाचक्षते—न सूक्ष्मदर्शिनस्ते। बोधः खलु प्रमाणस्य फलं, न साक्षात्प्रमाणम्। करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः, प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्। प्रमीयत इति कोऽर्थः? प्रमा जन्यत इति। प्रमाणादवगच्छाम इति वदन्तो लौकिकाः करणस्यैव प्रामाण्यमनुमन्यन्ते। यत्तु प्रमा प्रमाणमिति प्रमाणशब्दः, स प्रमाणफले द्रष्टव्यः। तथा च संशयविपर्ययात्मके सप्रमाणफलमपि ज्ञानं आत्ममनोऽनुमाने तद्विशेषणार्थपरिच्छेदे वा विशिष्टप्रमाजननात् प्रमाणतां प्रतिपद्यते। अव्यभिचारादिविशेषणोपपन्नमपि ज्ञानमफलजनकं अप्रमाणमेव। केवलप्रमास्वभावं प्रमाणाद्विभिन्नं फलमिति प्रत्यक्षलक्षणे वक्ष्यामः।

जो (बौद्ध) लोग प्रमाण को केवल बोधस्वरूप ही मानते हैं, वे सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं। बोध (या ज्ञान) तो वस्तुतः प्रमाण का फल होता है, स्वयं प्रमाणस्वरूप नहीं, जबकि प्रमाण शब्द तो करण अर्थ का वाचक होता है, जिसके द्वारा प्रमिति होती है, वह प्रमाण कहा जाता है। यदि ऐसा पूछा जाये कि प्रमिति होती है इसका क्या अर्थ है, तो सिद्धान्ती का उत्तर होगा कि 'प्रमा उत्पन्न होती है।' और 'हम प्रमाण (करण) से जानते हैं'—ऐसा कहने वाले लौकिक जन भी करण का ही प्रमाणत्व स्वीकार करते हैं। जो यह 'प्रमा प्रमाण है' इस प्रकार के व्यवहार में प्रयुक्त प्रमाण शब्द है, वह प्रमाण के फल के अर्थ में प्रयुक्त जानना चाहिए। और संशय एवं विपर्यय रूप ज्ञान यद्यपि अप्रमाण फल वाला (प्रमाण के फल से भिन्न फल वाला अर्थात् अप्रमा) होता है, फिर भी या तो आत्मा और मन के अनुमान में (ज्ञान, इच्छा आदि के आत्म-साधक लिङ्ग होने के कारण) उसको प्रमाण कहा जाता है (उसमें कोई हानि नहीं है) या उसके अव्यभिचारि आदि विशेषणों का अर्थ इस स्थलविशेष पर परिच्छिन्न (सीमित) कर लिया जाता है इसलिए उसे विशिष्ट प्रमाणों का जनक होने से प्रमाण कह दिया जाता है। भले ही इससे भिन्न ज्ञान अव्यभिचारादि विशेषणों से युक्त हो, फिर भी फल का जनक न होने से वह वस्तुतः अप्रमाण ही रहता है। ज्ञान केवल प्रमास्वभाव होता है और प्रमाण से पृथक् फलरूप होता है,[8] यह हम आगे प्रत्यक्ष-लक्षण के समय बतायेंगे।

अथ व्यतिरिक्तफलजनकमपि बोधरूपमेव प्रमाणमुच्यते तदयुक्तम्—सकलजगद्विदितबोधेतरस्वभावशब्दलिङ्गदीपेन्द्रियादिपरिहारप्रसङ्गात्। तस्मात् सामग्र्यनुप्रविष्टो बोधः विशेषणज्ञानमिव क्वचित्प्रत्यक्षे, लिङ्गज्ञानमिव लिङ्गिप्रमितौ, सारूप्यदर्शनमिवोपमाने, शब्दश्रवणमिव तदर्थज्ञाने प्रमाणतां प्रतिपद्यते। अत एव बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणमित्युक्तम्॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और यदि (पूर्वपक्षी बौद्ध की ओर से) कहा जाये कि पृथक् फल का जनक होने पर भी प्रमाण ज्ञानस्वरूप ही है तो वह कथन अनुचित है क्योंकि सारे संसार में ज्ञात यह तथ्य अनुभवसिद्ध है कि शब्द, लिङ्ग, दीप और इन्द्रिय आदि प्रमाण बोधेतर स्वभाव (बोधरूप नहीं) हैं, यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो इन सब प्रमाणों के परिहार का प्रसंग आ पड़ेगा। इसलिए (यही मान्यता ठीक है कि) कहीं-कहीं सामग्री में अनुप्रविष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष में विशेषण ज्ञान की भांति, लिङ्गी (साध्य) की अनुमिति में लिङ्गज्ञान की भांति, उपमान में सादृश्यज्ञान की भांति और शाब्दबोध (अर्थज्ञान) में शब्दश्रवण की भांति प्रमाणता को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए 'बोधाबोधस्वभाव वाली सामग्री प्रमाण है'—यह कहा गया है (और वही सिद्धान्तसम्मत है)।

निराकार-ज्ञानवादी वैभाषिक मत का निराकरण[1]

अन्ये तु तुल्यसामग्र्यधीनयोः ज्ञानार्थयोः ग्राह्यग्राहकभावं वदन्तः बोधं प्रमाणमभ्युपागमन्। क्षणभङ्गिषु पदार्थेषु सहकार्युपादानकारणापेक्ष क्षणान्तर सन्ततिजननेन च लोकयात्रामुद्वहत्सु ज्ञानजन्मनि ज्ञानमुपादानकारणम्, अर्थः सहकारिकारणम्; अर्थजन्मनि च अर्थः उपादानकारणं, ज्ञानं च सहकारिकारणमिति—ज्ञानं च ज्ञानार्थजन्यम्, अर्थश्च अर्थज्ञानजन्यो भवतीत्येवमेकसामग्र्यधीनतया तमर्थमव्यभिचरतो ज्ञानस्य तत्र प्रामाण्यमिति॥

तदिदमनुपपन्नम्—अफलजनकस्य प्रमाणत्वानुपपत्तेरित्युक्तत्वात्। अपि च कर्मणि ज्ञानं प्रमाणमिष्यते। यथोक्तम्—

सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि' इति।

स चायमर्थक्षणो ज्ञानसमकालः ततःपूर्वाभ्यां ज्ञानार्थलक्षणाभ्याम् उपजनित इति तत्कर्मतां प्रतिपद्यतां, न पुनः स्वसमानकालप्रसूतज्ञानक्षणकर्मतामिति॥

ननु च तुल्यसामग्र्यधीनतया समानकालतया च तदव्यभिचारसिद्धौ सत्यां क्व कर्मत्वमुपयुज्यते? हन्त तर्हि सहोत्पन्नयोः समानसामग्रीकयोः ग्राह्यग्राहकनियमः किंकृत इति वक्तव्यम्? ज्ञानं स्वप्रकाशस्वभावमिति ग्राहम्, अर्थो जडात्मेति ग्राह्यम्—इति चेत्—अयमपि विशेषस्तुल्य कालयोः कुतस्त्यः? उपादानसहकारिकारणभेदादिति चेत्, न—तस्य क्षणभङ्गभङ्गे निराकरिष्यमाणत्वात्॥

कुछ अन्य पूर्वपक्षी ज्ञान और उसके विषय को एक ही सामग्री से जन्य मानकर उनमें ग्राह्य-ग्राहक भाव बताते हुए बोध को ही प्रमाण मानते हैं। उनका विचार है कि लोकयात्रा-निर्वाह में सहायक क्षणभंगुर पदार्थों में सहकारी एवं उपादानकारण की अपेक्षा होती है तथा अगला क्षण पिछले क्षण की सन्तति होता है—इस नियम के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञान उपादान कारण होता है और अर्थ सहकारी कारण होता है। इसी भांति अर्थ की उत्पत्ति में अर्थ उपादान कारण और ज्ञान सहकारी कारण होता है; अन्य शब्दों में 'ज्ञान' ज्ञान और अर्थ से जन्य है तथा 'अर्थ' अर्थ और ज्ञान से जन्य (यही एक सामग्री के अधीन होना है)—इस भांति अर्थ और ज्ञान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दोनों एक ही सामग्री से जन्य होते हैं, अतः उस अर्थ का अव्यभिचारी होने से ही ज्ञान का प्रमाण्य होता है।

उक्त मान्यता असंगत है[10] क्योंकि जैसा पहले ही कहा है, इस मत को स्वीकार करने पर तो प्रमिति रूपी फल को न उत्पन्न करने वाले कारण को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। और फिर ज्ञान की क्रिया में ज्ञान की प्रमाणता हमें इष्ट भी है।[11] जैसाकि (आपके ही मत में भी) कहा गया है—

अपने वस्तु पर अपनी क्रिया के व्यापार से ज्ञान व्यापारयुक्त-सा प्रतीत होता है। (प्रमाणसमुच्चय, I)

यह अर्थ का क्षण ज्ञान का समकालिक है, इसलिए पिछले ज्ञान और अर्थ के क्षणों से उत्पन्न है, अतः वह ज्ञान उस अर्थ की कर्मता को तो चाहे प्राप्त कर भी ले, लेकिन वह अपने समान काल में उत्पन्न ज्ञान क्षण की कर्मता को प्राप्त नहीं कर सकता। (भाव यह है कि कारण सदा पूर्ववर्ती ही होता है वह कार्य का समानकालिक नहीं हो सकता)।

(सिद्धान्ती की ओर से) पुनः प्रश्न होता है कि अर्थ की ज्ञान के प्रति कर्मता कैसे सिद्ध की जा सकती है यदि वे दोनों (अर्थ और ज्ञान) एक सामग्री से जन्य होने के कारण और समानकालिक होने के कारण परस्पर अव्यभिचारी रूप में सिद्ध हैं तो फिर साथ-साथ उत्पन्न होने वाले और समान सामग्री से जन्य उन दोनों में ग्राह्य-ग्राहक नियम क्योंकर माना जाये? यदि ज्ञान प्रकाशस्वरूप होने से ग्राहक है और यदि अर्थ जड़ रूप होने से ग्राह्य है तो फिर समान कारण वाले इन दोनों में यह भेद क्यों? यदि आप कहें कि एक उपादानकारण है और दूसरा सहकारिकारण है तो यह भी मान्य नहीं है क्योंकि क्षणभंगवाद के निराकरण-स्थल पर इस मान्यता का निराकरण किया जायेगा।

साकार-ज्ञानवादी बौद्ध मत का निराकरण

येऽपि निराकारस्य बोधस्वरूपस्य नीलपीताद्यनेकविषयसाधारणत्वात्, जनकत्वस्य च चक्षुरादावपि भावेनातिप्रसङ्गात्, तदाकारकृतमेव ज्ञानकर्मनियममवगच्छन्तः साकारं विज्ञानं प्रमाणमिति प्रतिपेदिरे तेऽपि विज्ञानाद्वैतसिषाधयिषयैवमभिदधानाः तन्निरासप्रसङ्ग एव निरसिष्यन्ते। न ह्येकमेव साकारं ज्ञानं ग्राह्यं ग्राहकं च भवितुमर्हतीति वक्ष्यते॥

अर्थस्तु साकारज्ञानवादिनो न समस्त्येव। स ह्यनुमेयो वा स्यात्? प्रत्यक्षो वा? नानुमेयः, सम्बन्धग्रहणाभावात्।

अर्थे हि सति साकारं निराकारं तदत्यये।
नित्यानुमेय बाह्यार्थवादी ज्ञानं क्व दृष्टवान्॥38॥

जो लोग निराकारवादियों का खण्डन करके ज्ञान और कर्म के साहचर्य-नियम को मानते हुए साकार विज्ञान को ही प्रमाण प्रतिपादित करते हैं, उनके मत में ज्ञान को निराकार मानने पर तो नीले, पीले आदि अनेक त्रिषयों का समान जनक मानना होगा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और उसके चक्षु आदि में भी उपस्थित रहने से अतिव्याप्ति का प्रसंग होगा, विज्ञानाद्वैत (केवल विज्ञान) को सिद्ध करने की अभिलाषा वाले उन विज्ञानवादियों का भी यथास्थल निराकरण किया जायेगा। वहीं यह भी बताया जायेगा कि एक ही साकार ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक दोनों नहीं हो सकता है।

साकारज्ञानवादी के अनुसार अर्थ का तो अस्तित्व ही नहीं है (क्योंकि वह विवर्तमात्र है), यदि वह होता तो उसका या तो अनुमान से ग्रहण होना चाहिए या प्रत्यक्ष से? किन्तु वह अनुमान का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि उसके व्याप्ति-सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता। अतः यदि वह ज्ञान अर्थ के होने पर साकार और न होने पर निराकार है तो फिर बाह्यार्थानुमेयवादी ज्ञान को कहां देखते हैं?

नापि प्रत्यक्षोऽर्थः आकारद्वयानुपलम्भात्। अभ्युपगमे चानवस्थाप्रसङ्गात्। अर्थाकारो हि निराकारज्ञानगम्यो न भवतीति ज्ञानेनाकारवता गृह्यते; सोऽयमिदानीं ज्ञानाकारोऽपि ग्राह्यत्वात् अन्येनाकारवता गृह्यते, सोऽप्यन्येनेति॥

अथ वा अर्थो निराकार ज्ञानग्राह्यतां नोपयातीति स्वग्राहके ज्ञानात्मनि समर्पितात्मा भवति साकारं ज्ञानमेवेदं संपन्नमिति पुनरर्थोऽन्यः कल्पनीयः, सोऽपि ग्राह्यत्वात् स्वग्राहकस्य साकारत्वसिद्धये तत्रैव लीयत इति साकारं ज्ञानमेवावशिष्यत इति पुनरन्योऽर्थ इति इत्थमनवस्था। प्रतिकर्मव्यवस्था तु जनकत्वनिबन्धना भविष्यति, वस्तुस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। साकारपक्षेऽपि पर्यनुयोगसाम्यमित्यादि सर्वं उपरिष्टात् सविस्तरमभिधास्यते। साकारपक्षेऽपि च न प्रमाणात् व्यतिरिक्तं फलमुपदर्शितमित्यसत्पक्ष एवायम्॥

अर्थ का प्रत्यक्ष भी नहीं होता क्योंकि उसकी न तो साकार रूप प्रतीति होती है न निराकार। अतः यदि उसका प्रत्यक्ष माना जाये तो अनवस्था का प्रसङ्ग आ पड़ेगा—कारण यह है कि यदि अर्थ का प्रत्यक्ष अर्थाकार यानि साकार माना जाये तो वह निराकार ज्ञान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान के द्वारा तो साकार वस्तु का ही ग्रहण होता है। अब यदि इस ज्ञान के आकार को भी ग्राह्य माना जाये तो किसी दूसरे आकारवान् के द्वारा ही उसका ग्रहण होगा और उस दूसरे आकारवान् के लिए फिर किसी तीसरे आकारवान् को मानना पड़ेगा—इस भांति अनवस्था दोष हो जायेगा।

यदि कहा जाये कि अर्थ निराकार ज्ञान का विषय नहीं होता, और वह अपने ग्राहक ज्ञान में ही समर्पित होता है, अतः वह ज्ञान (अर्थ के कारण) साकार ही हो जाता है—तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि फिर उसके लिए एक दूसरे अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और वह दूसरा अर्थ भी ग्राह्य होने के कारण अपने ग्राहक ज्ञान की साकारत्व-सिद्धि के लिए उसी में लीन हो जाता है—इस भांति साकार ज्ञान ही शेष रह जाता है; उसके लिए फिर एक दूसरे अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और इसमें भी अनवस्था होगी तथा इस अनवस्था में प्रत्येक वस्तु के क्रम का निर्धारण उसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जनकत्व पर निर्भर होगा क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव तो शंका से परे है। अर्थ की साकारता के पक्ष में भी 'पर्यनुयोग' (दूषणार्थ जिज्ञासा या किसी विषय का खण्डन करने के लिए अनुसन्धान) की आशंका तो समान ही है, यह सब आगे विस्तारपूर्वक बताया जायेगा। इस भांति साकारज्ञानवादी का मत कि 'फल प्रमाण से भिन्न नहीं है'—यह भी असत् पक्ष यानि मिथ्या ही है।

भाट्ट मीमांसक मत

शाबरास्तु ब्रुवते—य एते बोधप्रामाण्यवादिनो विज्ञानादभिन्नमेव फलमभिदधति, ते बाढं निरसनीया भवन्त्येव; वयं तु विज्ञानात् भिन्नमेव फलं अर्थ दृष्टताख्यम् अभ्युपगच्छामः। तेनैव तदनुमीयते ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकं, क्रिया च फलानुमेया; ज्ञातृव्यापारमन्तरेण फलानिष्पत्तेः ॥

आचार्य शबर के अनुयायी भाट्ट मीमांसकों का कथन है कि जो लोग ज्ञान को प्रमाण रूप मानते हैं तथा (प्रमाण फल) को प्रमाण से अभिन्न ही बताते हैं, उनका तो अवश्य ही निराकरण करना चाहिए, हम लोग तो ज्ञान से भिन्न उस फल को ही स्वीकार करते हैं जो ज्ञात अर्थ वाला है (ज्ञातता के विशेषण से युक्त है)। उसी (ज्ञातता) से उस फल का अनुमान होता है क्योंकि ज्ञान क्रियात्मक होता है और क्रिया फल से अनुमित होती है—ज्ञाता के व्यापार के बिना फल की निष्पत्ति नहीं होती।

संसर्गोऽपि कारकाणां क्रियागर्भ एव भवति। तदनभ्युपगमे किमधिकृत्य कारकाणि संसृज्येरन्। न चासंसृष्टानि तानि फलवन्ति। क्रियावेशवशाच्च कारकं कारकं भवति। अपरथा हि तत् वस्तुस्वरूपमात्रमेव स्यात् न कारकम्। ततश्च न फलार्थिभिरुपादीयेतेति व्यवहारविलोपः। तस्मात् यथा हि कारकाणि तण्डुलसलिलानलस्थाल्यादीनि सिद्धस्वभावानि साध्यं धात्वर्थमेकं पाकलक्षणमुररीकृत्य संसृज्यन्ते, संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति, तथाऽऽत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षे सति ज्ञानाख्यो व्यापार उपजायते। स च न प्रत्यक्षः; अर्थस्यैव बहिर्देशसम्बद्धस्य ग्रहणात्, आकारद्वयप्रतिभासाभावात्, अगृहीतस्यापि तस्य चक्षुरादिवदुपायत्वात् परोक्षोऽपि चासौ विषयप्रकाशतालक्षणेन फलेन कल्प्यते। तदाह भाष्यकारः 'न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति इति। वार्तिककृताऽप्युक्तम्—

"नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टस्सन्नुपपद्यते।
ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात्प्रमाणमुपकल्प्यते ॥"इति।

तदेष फलानुमेयो ज्ञातृव्यापारो ज्ञानादिशब्दवाच्यः प्रमाणम्। इन्द्रियादीनां तु तदुत्पादकतया इन्द्रियव्यापारे ज्ञानमुपचरति, न साक्षादिति ॥

कारकों का संसर्ग भी ज्ञाता की क्रिया से ही निष्पन्न होता है। क्रिया को माने बिना कारकों का संसर्ग किसके आधार पर होगा? और संसर्ग के बिना वे कारक फलयुक्त (सार्थक) नहीं होंगे। क्रिया के समागम से ही कारक कारक कहे जाते हैं अन्यथा तो केवल उस वस्तु का स्वरूप ही रहेगा, वह कारक नहीं होगा। और फिर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो फल की कामना करने वालों के द्वारा उसका ग्रहण भी नहीं होगा और व्यवहार ही विलुप्त हो जायेगा। इसलिए जैसे चावल, पानी, अग्नि और पतीली आदि स्वयं वस्तुरूप में प्रस्तुत होने पर भी पाक क्रियारूपी साध्य को लक्ष्य में रखकर एकत्रित होते हैं और जैसे कारक स्वयं वस्तुरूप में उपस्थित होने पर भी एक धात्वर्थ को लक्ष्य में रखकर एकत्रित होते हैं और क्रिया को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ का संयोग होने पर ज्ञानरूपी व्यापार उत्पन्न होता है और वह ज्ञानरूपी व्यापार प्रत्यक्ष नहीं होता है, विषय के प्रकाशित होने से फलरूप में उसका अनुमान किया जाता है क्योंकि बाह्य प्रदेश में अवस्थित विषय का ही ग्रहण होता है—उभयाकार (ज्ञान का आकार और अर्थ का आकार, ये दोनों) ग्रहण नहीं होता जैसे चक्षु आदि करण स्वयं प्रत्यक्ष न होने पर भी ज्ञान की क्रिया में अनुमित होते हैं। यही भाष्यकार शबर ने कहा है—जब तक विषय का ज्ञान नहीं होता है तब तक ज्ञान का ज्ञान नहीं होगा। परन्तु जब विषय ज्ञात होता है तब ही (ज्ञातता पर आधारित) अनुमान द्वारा ज्ञान का ज्ञान होता है। वार्तिककार कुमारिल भट्ट ने भी कहा है—वस्तु के दृष्ट होने पर भी उसकी ज्ञातता की सिद्धि ज्ञान के बिना नहीं हो सकती (पहले वस्तु की स्थिति, फिर उसका दिखाई देना, फिर उसका ज्ञान और उसके बाद ज्ञातता की उत्पत्ति—ज्ञान की प्रक्रिया में यही क्रम मीमांसासम्मत है)—वस्तु के ज्ञात होने के पश्चात् ज्ञान के प्रमाण का भान होता है।[12]

इस प्रकार फल से अनुमित होने वाला यह ज्ञान-व्यापार ही 'ज्ञान' शब्द से कहा जाता है और यही वस्तुतः प्रमाण है। इन्द्रिय आदि को तो उस ज्ञान का उत्पादक होने से उपचारवश (गौण रूप से) प्रमाण कह दिया जाता है—वे साक्षात् प्रमाण नहीं होते हैं। अतः ज्ञान ही प्रमाण है, यह भाट्ट मत है।

भाट्ट मत का खण्डन

अत्र प्रतिविधीयते—अहो बत इमे केभ्यो बिभ्यतः श्रोत्रियाः परं किमपि वैक्लव्यमुपागताः! न खलु नित्यं परोक्षं ज्ञानं भवितुमर्हति, ज्ञातोऽर्थ इति क्वचित्तद्विशिष्टार्थप्रत्यवमर्शदर्शनात्; विशेषणाग्रहणे शुक्लः पट इतिवत् विशिष्टप्रतीतेरनुत्पादात् ॥

कश्चायमियान् संत्रासः! विषयग्रहणकाले विज्ञानाग्रहणमात्रकेण बाह्यार्थनिह्नववादिनः शाक्याः शक्याः शमयितुम् ॥

अब उक्त मत का निराकरण किया जा रहा है—बड़े खेद एवं आश्चर्य का विषय है कि ये मीमांसक किनसे डरते हुए इतनी व्याकुलता को प्राप्त हो रहे हैं? ज्ञान सदा परोक्ष नहीं हो सकता क्योंकि कभी तो किसी विशिष्ट (विशेषण युक्त) विषय का विमर्श होने पर कहा जाता है कि 'उस विषय को जान लिया' और कभी विशेषण का ग्रहण न होने पर 'यह वस्त्र सफेद है' इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता नहीं देखा जाता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फिर यह इतना डर क्योंकर? विषय को ग्रहण करने के समय विज्ञान का ग्रहण न होने भर से ही बाह्यार्थ का लोप मानने वाले बौद्धों (के सहोपलम्भ-नियम) को तो शान्त किया ही जा सकता है।

यत्तु क्रियास्वभावत्त्वात्तस्य परोक्षत्वं तदयुक्तम् न हि क्रियास्वभावं ज्ञानम् अपि तु फलस्वभावमेव॥

अपि च क्रियाऽपि प्रत्यक्षद्रव्यवर्तिनी प्रत्यक्षैव भाट्टानां प्रत्यक्षश्चात्मा; तत् किमनेनापराद्धं, यदेतदीयक्रियाया अप्रत्यक्षत्वमुच्यते। न चोत्क्षेपणादिभेदभिन्नपरिस्पन्दात्मकव्यापारव्यतिरेकेण बाह्यकारकेष्वपि सूक्ष्मा नाम काचिदस्ति क्रिया। सा हि यदि नित्या जातिवत्, अथानित्या रूपवत् वस्तुधर्म इष्येत।

और जो ज्ञान को क्रियास्वभाव मानकर परोक्ष कहा जा रहा है, वह भी अनुचित है क्योंकि (हमारे अनुसार तो) ज्ञान क्रियास्वभाव नहीं, फलस्वभाव ही है।

और भी, भाट्ट मत में प्रत्यक्ष द्रव्य में रहने वाली क्रिया भी प्रत्यक्ष मानी गई है तथा आत्मा द्रव्य का भी प्रत्यक्ष माना ही गया है। फिर इस ज्ञान ने क्या अपराध किया है कि इसकी क्रिया को अप्रत्यक्ष कहा जा रहा है। न ही उत्क्षेपण आदि भेदों से भिन्न, गतिशील व्यापार से पृथक् कोई सूक्ष्म क्रिया होती है जो बाह्य कारकों में पाई जाती हो। यदि वह नित्य हो तो जाति की भांति होगी और यदि अनित्य हो तो रूप की भांति उसे वस्तु का धर्म मानना होगा।

तत्र यदि नित्या, तर्हि सर्वदा वस्तुनः क्रियायोगात् सर्वदा फलनिष्पत्तिप्रसङ्गः। अथ कारकनिर्वर्त्त्या क्रिया, साऽपीदानीं कार्यत्वात् सव्यापारकारककार्या भवेदित्यनवस्था। निष्क्रियकारककार्यत्वे तु क्रियामिव फलमपि निष्क्रियाण्येव कारकाणि कुर्युरिति किं क्रियया?

अब यदि उस क्रिया को नित्य माना जायेगा तो वस्तु की क्रिया के सम्बन्ध से सदा फल की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। और यदि क्रिया कारक से निष्पन्न या अनित्य मानी जायेगी तो कार्य होगी और कार्य होने से उसे पुनः किसी व्यापारवान् कारक से जन्य मानना पड़ेगा, अतः अनवस्था दोष होगा। यदि यह माना जाये कि निष्क्रिय कारकों से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है तो फिर क्रिया का क्या प्रयोजन है? (यदि क्रिया के बिना भी कारक फल को उत्पन्न कर सकता है तो फिर क्रिया की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?)

प्रसंगवश कारक पदार्थ का विचार

ननु करोतीति कारकम्। क्रियाऽऽवेशमन्तरेण च कारकत्वानुपपत्तिः—सत्यं, करोतीति कारकं, तत्तु फलमेव करोति, न क्रियाम्॥

ननु करोतीति यद्ब्रूषे सेयमुक्तैव क्रिया भवति। चैत्रः कटं करोतीति चैत्रस्येव कटस्येव करोत्यर्थस्याप्रत्याख्येयत्वात्; तत्कृतमेव चैत्रादीनां कारकत्वम्—उच्यते—नातीन्द्रियक्रियायोगनिबन्धनः कारकभावः, क्रियाया अतीन्द्रियत्वेन तद्योगकृतकार-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कत्वानधिगमे व्यवहारविप्रलोपप्रसङ्गात्। क्रियाऽऽवेशकृतं हि तत्कारकत्व मनवगच्छन्तः कथं फलार्थिनस्तदुपाददीरन्॥

प्रश्न उठता है कि कारक तो वही है जो 'करता है', अतः क्रिया के समावेश के बिना तो उसका कारकत्व ही असिद्ध हो जायेगा। इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्ष की ओर से कहा जा रहा है कि ठीक है, जो करता है, वही कारक है किन्तु वह फल को ही (उत्पन्न) करता है, न कि क्रिया को। (वस्तुतः क्रिया कारक से जन्य नहीं होती, वरन् कारक क्रिया के संसर्ग से बनते हैं)।

पुनः शंका होती है कि आप भी जो यह कहते हैं कि—'करता है', (वही कारक है), तो इससे हमारे द्वारा पहले कही गई क्रिया को ही तो कह रहे हैं। उदाहरण के लिए—'चैत्र चटाई बनाता है।' इस वाक्य में जिस तरह चैत्र (कर्त्ता) और चटाई (कर्म) को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है उसी तरह 'बनाता है' इस क्रिया का भी निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि इसी से चैत्रादि का कारकत्व निष्पन्न होता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कहता है कि कारक-भाव (कारकत्व) अतीन्द्रिय क्रिया की शक्ति से निष्पन्न होने वाला नहीं है क्योंकि यदि ऐसा माना जाये तो क्रिया के अतीन्द्रिय होने से उसकी शक्ति से निष्पन्न होने वाला कारकत्व भी (अतीन्द्रिय होगा और) अनधिगत ही होगा—इस भांति समस्त व्यवहार के विलोप का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। तो फिर क्रिया के समावेश से निष्पन्न उस कारकत्व को न समझने वाले फलाकांक्षी कैसे उसका ग्रहण करेंगे?

मत्पक्षे कारकत्वं हि नास्ति किञ्चिदतीन्द्रियम्।
कारकत्वं स्वरूपस्य सहकार्यादिसन्निधिः॥39॥
तावदेव विनिश्चित्य तदुपादीयतेऽर्थिभिः।
तदेवोपाददानैश्च फलमप्यधिगम्यते॥40॥
निर्व्यापारस्य सत्त्वस्य को गुणः सहकारिभिः।
सव्यापारस्य सत्त्वस्य को गुणः सहकारिभिः॥41॥
अथ व्यापार एवैष सर्वैस्सम्भूय साध्यते।
किं फलेनापराद्धं वः तद्धि सम्भूय साध्यताम्॥42॥

हमारे मत में तो कारकत्व कोई अतीन्द्रिय तत्त्व नहीं है अपितु वस्तु के स्वरूप एवं सहकारी कारणों (क्रिया, विभक्ति आदि) की सन्निधि (उपस्थिति) ही है।(39)

फलाकांक्षियों के द्वारा उसे ही निश्चित रूप से जानकर ग्रहण किया जाता है और उसे ही ग्रहण करने वालों के द्वारा फल भी प्राप्त कर लिया जाता है।(40)

वस्तुतः व्यापारहीन कारक के लिए सहकारी कारणों का क्या प्रयोजन है और यदि कारक व्यापारवान् हो तो भी सहकारी कारणों का क्या लाभ?(41)

यदि ऐसा माना जाये कि इन सब सहकारी कारणों के द्वारा मिलकर व्यापार की सिद्धि की जाती है तो फिर फल का ही क्या दोष है? फिर तो आपको (पूर्वपक्षी को) यही मान लेना चाहिए कि वे सब मिलकर फल को सिद्ध करते हैं।(42)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसी सन्दर्भ में धात्वर्थ विचार

यत्तु करोत्यर्थस्याप्रत्याख्येयत्वादित्युक्तं—तत्रोच्यते—परिस्पन्द एव भौतिको व्यापारः करोत्यर्थः। न हि वयं परिस्पन्दात्मकं परिदृश्यमानं व्यापारमपह्नुमहे, प्रतिकारकं विचित्रस्य ज्वलनादेर्व्यापारस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्। अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्तीति ब्रूमहे॥

ननु पाको नाम धात्वर्थः परिदृश्यमानज्वलनादिव्यापारव्यतिरिक्त एषितव्य एव, तमन्तरेण फलनिष्पत्तेरभावात्।

ऊपर जो यह कहा गया कि (चटाई) 'बनाता है'—इस क्रिया का निषेध नहीं किया जा सकता, पूर्वपक्षी के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्तपक्ष की ओर से कहा जा रहा है कि 'करोति' क्रिया का अर्थ परिस्पन्द या भौतिक व्यापार ही है। हम (सिद्धान्ती) भी दिखाई देने वाले गतिशील व्यापार का निषेध नहीं करते क्योंकि प्रत्येक कारक में पृथक्-पृथक् दाह आदि व्यापार का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। हमारा तो यही कहना है कि कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं होता है।

पुनः पूर्वपक्षी की ओर से आक्षेप होता है कि 'पाक' (पकाने की क्रिया) भी तो धातु का अर्थ है जो दाह आदि दिखाई देने वाले व्यापार से अतिरिक्त है—यह तो आपको भी स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि उसके बिना फल की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

असति च तस्मिन् किमधिकृत्य कारकाणि संसृज्येरन्नित्युक्तम्—तदयुक्तम्—यं तमेकं धात्वर्थं साध्यं बुध्यसे, स किं समुदितसकलकारकसम्पाद्यः? एकैककारकनिर्वर्त्यो वा?

तत्राद्यपक्ष एकैकं भवेत्कारकमक्रियम्।
एकैकनिष्क्रियत्वे च साकल्येऽपि कुतः क्रिया॥43॥

उस (पाक नामक अतीन्द्रिय व्यापार) के न होने पर कारक किसके लिए समन्वित होंगे?—यह जो (पूर्वपक्षी की ओर से) कहा गया, वह वास्तव में अनुचित है। इसलिए हम (सिद्धान्ती) पूछना चाहते हैं कि आप जिस एक धात्वर्थ को साध्य मानते हैं, क्या वह सब कारकों के समुच्चय से सम्पन्न होता है या एक-एक कारक से स्वतन्त्र रूप में निष्पन्न होता है?

यदि इनमें से पहला पक्ष माना जाये (कि सब कारकों के समुच्चय से ही फल की सिद्धि होती है) तब तो फिर प्रत्येक कारक एक-एक स्वतन्त्र रूप से निष्क्रिय सिद्ध हो जायेगा और जब प्रत्येक कारक स्वतन्त्र रूप से निष्क्रिय होगा तो फिर उन कारकों के समुच्चय में क्रिया कहां से उत्पन्न मानी जायेगी? (43)

उत्तरस्मिन् पक्षे प्रत्येकमपि पाकक्रियायोगात् कारकान्तरनिरपेक्षादेकस्मात् कारकात् फलनिष्पत्तिप्रसङ्गः। न च तथाविधधात्वर्थपुरस्सरः कारकाणां संसर्गः॥

क्रियानिमित्तसंसर्गवादिनो हि द्वयी गतिः।
सत्यां क्रियायां सम्बन्धः? सम्बन्धे सति वा क्रिया॥44॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मेलनात् पूर्वसिद्धायां क्रियायां मेलनेन किम्?
तथा च जन्येत फलं विभक्तैरपि कारकैः ।।45 ।।

और यदि दूसरा पक्ष मानते हो (कि एक-एक कारक से फल की निष्पत्ति होती है) तो प्रत्येक कारक से स्वतन्त्र रूप में पाक-क्रिया फलित होने पर बाकी कारकों की आवश्यकता ही न रहेगी तथा एक ही कारक से फल की निष्पत्ति का प्रसंग उठ खड़ा होगा। जबकि वास्तव में कारकों का संसर्ग इस प्रकार धात्वर्थ को सामने रखकर नहीं होता है।

इस भाँति क्रिया के निमित्त कारकों का संसर्ग मानने वाले पूर्वपक्षी (मीमांसक) के सामने दो मार्ग हैं—

(क) क्रिया होने पर कारकों का सम्बन्ध होता है।

(ख) अथवा कारकों का सम्बन्ध होने पर क्रिया होती है।(44)

यदि कारकों के मिलने से पूर्व ही क्रिया हो जाती है तो फिर उनके मिलने का क्या लाभ? क्योंकि फिर तो प्रत्येक विभक्त कारक भी फल को उत्पन्न कर सकता है।(45)

मेलनात्तु क्रियासिद्धौ पुनरेकैकमक्रियम्।
तथा सति न काष्ठानि ज्वलेयुः पिठराद्विना ।।46 ।।

ननु पिठराद्विना काष्ठानि ज्वलन्ति, न तु पचन्ति—मैवम्—सत्यपि पिठरे ज्वलन्त्येव काष्ठानि, नान्यत् कुर्वन्ति दृश्यन्ते। तस्मात् क्रियान्तराभावात् फलमेवोररीकृत्य कारकाणि संसृज्यन्ते ।।

और यदि कारकों के मिलने से क्रिया की सिद्धि होती हो तो प्रत्येक कारक को विभक्त रूप में निष्क्रिय मानना पड़ेगा और फिर तो यह भी मानना पड़ेगा कि लकड़ियां पतीली के बिना जलनी ही नहीं चाहिए।(46)

इस पर यदि पूर्वपक्षी की ओर से कहा जाये कि लकड़ियां पतीली के विना भी जलती तो हैं, किन्तु पकाती नहीं है (क्योंकि पाक तो दिखाई देने वाले दाह से अतिरिक्त अतीन्द्रिय व्यापार है)—तो इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ऐसी व्यवस्था ठीक नहीं है क्योंकि पतीली के होने पर भी लकड़ियां जलती ही हैं, कुछ और काम करती तो नहीं दिखाई देतीं। इसलिए यही मान्यता ठीक है कि किसी दूसरी क्रिया के न होने से कारक फल को ही लक्ष्य में रखकर सम्मिलित होते हैं (अर्थात् फल भिन्न है और क्रिया भिन्न)।

ननु फलमपि सिद्धं चेत् कः सर्वेषां सिद्धस्वभावानां सम्बन्धः? फलं सिद्धं, कारकाणि सिद्धानीति सम्बन्धाभावः। साध्यं चेत् फलं, सैव क्रिया परिस्पन्दव्यतिरिक्तेति —मैवं वोचः—फलस्य क्रियात्वानुपपत्तेः। ओदनं हि फलं, न क्रिया; क्रियानाम्नि तु क्रियमाणे न विवदामहे।

पुनः पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न होता है कि यदि फल को भी सिद्ध मान लिया जाये तो सारे सिद्धस्वभाव वालों का सम्बन्ध कैसा होगा? जब फल भी (पहले से)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सिद्ध है और कारक भी सिद्ध हैं तो उनमें कोई सम्बन्ध होगा ही नहीं (क्योंकि सिद्ध वस्तुएं तो परस्पर आकांक्षारहित होती हैं और सम्बन्ध साकांक्ष वस्तुओं में ही होता है)। यदि फल साध्य है तब तो वही गतिविहीन क्रिया ही है (अर्थात् आप उसे फल कहते हैं और हम क्रिया—उनमें नाम का ही भेद है, वास्तविक नही)।

इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि ऐसा मत कहिए क्योंकि फल को क्रिया से अभिन्न मानना अनुचित है। उदाहरण के लिए भात फल है, न कि क्रिया। अतः किये जाने वाले कर्म को 'क्रिया' नाम देने में हमारा विवाद नहीं है (साध्यरूप फल को क्रिया से-अभिन्न मानने में है, यह भाव है)।

ननु पाक इदानीं कः? न च पचेर्वाच्यशून्यतैव युक्ता—उच्यते—समुदितदेवदत्तादिसकलकारकनिकरपरिस्पन्द एव विशिष्टफलावच्छिन्नः पाक इत्युच्यते; स एव हि पचेरर्थः। ता एव काष्ठपिठरादिक्रिया ज्वलनभरणादिस्वभावाः। पृथक्तया व्यवस्थिताः तथात्वेनैवावभासन्ते; समुदितास्तु सत्यः फलान्तरावच्छेदात् रूपान्तरेण पाकादिना परिस्फुरन्ति, व्यपदिश्यन्ते च। तथा च देवदत्तः पचतीतिवत् काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचतीति व्यपदेशो दृश्यते। देवदत्तस्यापि दर्वी विघट्टनादिरेव परिदृश्यमानस्तत्र व्यापारः, न ततोऽन्यः सूक्ष्मः ॥

अब प्रश्न उठता है कि 'पाक' वस्तुतः क्या है? पंच धातु को वाच्यविहीन मानना तो उचित नहीं है। इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्ष की ओर से कहा जाता है कि — देवदत्त (कर्त्ता) आदि समग्र कारकसमूह का सम्मिलित परिस्पन्द रूप व्यापार ही विशिष्ट फल से अवच्छिन्न (युक्त) होने पर 'पाक' कहा जाता है, वही पच् धातु का अर्थ है। लकड़ियों और पतीली आदि की क्रियायें पृथकशः दाह और भरण आदि के स्वभाववाली हैं और उन अर्थों में ही अलग-अलग व्यवस्थित हैं—वे उस रूप में ही दिखाई देती हैं। किन्तु सम्मिलित होने पर वे ही किसी दूसरे फल (पाक) से अवच्छिन्न होने के कारण किसी दूसरे रूप में परिवर्तित होकर पाकादि के रूप में प्रकट होती हैं और उसी नाम से जानी जाती हैं। इसीलिए 'देवदत्त पकाता है' की भांति ही 'लकड़ियां पकाती हैं', 'पतीली पकाती है'—ऐसा व्यवहार देखा जाता है। वहां देवदत्त का भी कड़छी हिलाना आदि स्थूल व्यापार ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अन्य कोई सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) व्यापार नहीं।

ननु देवदत्तादेर्भौतिको व्यापारः आत्मव्यापारपूर्वको भवितुमर्हति—नैतदेवम्—न ह्यात्मनो व्यापारः कश्चिदस्ति। इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नवशादेव स भौतिकव्यापारकरणतां प्रतिपद्यते ॥

तस्मात् कारकचक्रेण चलता जन्यते फलम्।
न पुश्चलनादन्यो व्यापार उपलभ्यते ॥47 ॥
चलन्तो देवदत्ताद्याः तदनन्तरमोदनः।
एतावद्दृश्यते त्वत्र न त्वन्या काचन क्रिया ॥48 ॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस पर वहाँ एक और शंका उठाई जाती है कि देवदत्त आदि के भौतिक व्यापार से पहले आत्मा का व्यापार (विचार, इच्छा आदि रूप में) तो हो सकता है (वही अतीन्द्रिय व्यापार है)—इसका समाधान सिद्धान्तमत में यह दिया गया है कि आत्मा का कोई व्यापार होता ही नहीं। इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न के कारण ही वह भौतिक व्यापार का करण बन जाता है। इसलिए (यही मानना चाहिए कि) गतिशील कारक समुच्चय से ही फल उत्पन्न होता है क्योंकि गति से भिन्न कोई दूसरा व्यापार उपलब्ध नहीं होता।(47)

पहले तो देवदत्त आदि कारक क्रियाशील होते हैं और उसके बाद भात तैयार होता है—इतना ही दिखाई देता है, और कोई क्रिया तो दिखाई नहीं देती।(48)

'भावना' भी पुरुष-व्यापार नहीं है

एतेन भावनाख्यः करोत्यर्थः पुरुषव्यापारो वाक्यार्थ इति योऽभ्युपगतः—सोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः। न हि पुरुषव्यापारः कश्चिदुपलभ्यते। विशिष्टगुणसमवाय एवास्य कर्तृत्वम्। न च ज्ञानादयो गुणा एव व्यापारसंज्ञावाच्याः, सिद्धस्वभावत्वात्॥

इसी कथन से भावना[13] नामक जो व्यापार पूर्वपक्ष द्वारा वाक्य के अर्थ रूप में माना गया है, उसका भी खण्डन जानना चाहिए क्योंकि पुरुष (आत्मा) का कोई व्यापार उपलब्ध नहीं होता। विशिष्ट गुणों का समवाय ही उस (पुरुष) का कर्तृत्व है। और न ही ज्ञानादि गुणों को आत्मा का व्यापार कहना चाहिए क्योंकि वे तो सिद्धस्वभाव हैं।

ज्ञान क्रियारूप नहीं है

ननु क्रियावचनो धातुरिति जानातेरपि क्रियैव वाच्या स्यात्। सा च क्रिया ज्ञानात्मा पुरुषव्यापारः—नायं नियमः क्रियावचनो धातुरिति। गडि वदनैकदेशे इत्यपि दर्शनात्॥

अपि च घटमहं जानामि इत्यत्र भवतः किं प्रतिभासते। घटमिति तावद्विषयः अहमित्यात्मा; जानामीति तु चिन्त्यं—किमत्र प्रकाशत इति। न व्यापारः परोक्षत्वात्। फलं यद्यत्र प्रकाशते—तदेव तर्हि धातुवाच्यमभ्युपगतं भवति। तस्मान्न क्रियात्मकं ज्ञानम्॥

यहां शंका होती है कि धातु क्रिया की वाचक होती है, अतः 'ज्ञा' धातु का वाच्य भी क्रिया ही होनी चाहिए और वह क्रिया ज्ञानस्वरूप पुरुष का व्यापार ही है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि सभी धातुएं क्रिया की वाचक होती हैं क्योंकि गड् धातु का प्रयोग 'चेहरे के एक भाग' के अर्थ में भी देखा जाता है ('गडि वदनैकदेशे' इस नियम के अनुसार)।

और भी, 'मैं घट को जानता हूँ' इस वाक्य में आपके अनुसार क्या प्रतीत होता है? क्या 'घट'-रूप विषय, 'मैं'-रूप आत्मा या 'जानता हूँ' इस प्रकार का विचार इनमें से क्या प्रकाशित होता है? व्यापार प्रकाशित होता है, यह तो माना नहीं जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता क्योंकि वह परोक्ष है। अब यदि यहां यह माना जाये कि फल प्रकाशित होता है तो वही धातु का वाच्य मानना चाहिए। इसलिए ज्ञान क्रियारूप नहीं है।

यदि च क्रियात्मकं ज्ञानमभविष्यत् न भाष्यकारः क्रियातः पृथगेनं निरदेक्ष्यत; निर्दिशति च 'बुद्धिकर्मणी अपि हि प्रत्यभिज्ञायेते, ते अपि नित्ये प्राप्नुतः' इति तस्मात् अन्यत् ज्ञानं, अन्या च क्रियेति न क्रियास्वभावत्वान्नित्यं परोक्षं ज्ञानम्।

और यदि ज्ञान क्रियारूप होता तो भाष्यकार इसे क्रिया से पृथक् निर्दिष्ट न करते। जबकि उन्होंने ऐसा निर्देश किया है कि 'बुद्धि (ज्ञान) और कर्म (क्रिया) भी जाने जाते हैं, ये दोनों भी नित्य उपलब्ध होते हैं'। इसलिए ज्ञान भिन्न है और क्रिया भिन्न। क्रियास्वभाव होने से ज्ञान नित्य परोक्ष है, ऐसा नहीं कहा गया।

यदि च नित्यपरोक्षो ज्ञातृव्यापारः स तर्हि प्रतिबन्धाग्रहणादनुमातुमपि न शक्यः। क्रियाविशिष्टबाह्यकारकसिद्धान्तस्य निरस्तत्वात्॥

आत्माद्यनुमाने का वार्ता? इति चेत्—न तत्र सामान्यतो व्याप्तिग्रहणस्य संभवादिति वक्ष्यामः। इह तु बाह्यकारकेष्वपि न तत्पूर्वकं फलं दृष्टमित्युक्तम्॥

न चार्थापत्तिरपि ज्ञातृव्यापारकल्पनायैव प्रभवति; इन्द्रियार्थसन्निकर्षवशादेवार्थदृष्टताया घटमानत्वात्॥

और यदि ज्ञानरूप व्यापार नित्य परोक्ष हो तो उसका अनुमान भी संभव नहीं होगा क्योंकि क्रिया से विशिष्ट किसी बाह्य कारक का दृष्टान्त उपलब्ध न होने से व्याप्ति-ग्रहण संभव न होगा।

इस पर यदि पूर्वपक्षी की ओर से कहा जाये कि फिर आत्मा आदि के अनुमान का क्या होगा? तो हम कहेंगे कि सामान्य रूप से व्याप्ति-ग्रहण होने के कारण उस (आत्मा) का अनुमान तो संभव है। जबकि यहां (उक्त स्थल पर) तो बाह्य कारकों के द्वारा भी उनसे निष्पन्न फल दिखाई नहीं देता, यह पहले बताया जा चुका है।

और न ही अर्थापत्ति भी ज्ञाता के व्यापार का विचार कराने में समर्थ है क्योंकि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ही अर्थदृष्टता संभव होती है।

का चेयमर्थस्य दृष्टता नाम? किं दर्शनकर्मता? किं वा प्रकाशस्वभावतेति? तत्र दर्शनस्य परोक्षत्वात् कथं तत्कर्मता—अर्थस्य दृष्टता गृह्येत। विशेषणाग्रहणे विशिष्टप्रतीतेरनुत्पादात्। अर्थप्रकाशतायास्तु सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वे सर्वज्ञाः स्युः॥

यदि पूछा जाये कि भला यह अर्थदृष्टता क्या है? क्या देखने की क्रिया? या प्रकाश रूप होना? उनमें से दर्शन की क्रिया को अर्थदृष्टता कैसे माना जा सकता है क्योंकि दर्शन (ज्ञान) तो परोक्ष है, जब तक विशेषणों का ग्रहण न हो जाये, तब तक विशिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अर्थदृष्टता का अभिप्राय प्रकाशरूपता माना जाये तो वह सबके लिए समान होती है, इसलिए फिर तो सभी को सर्वज्ञ होना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न स्युः सम्बन्धितयोत्पादादिति चेत्—अकारणमेतत्—अर्थस्यैव हि प्रकाशत्वमतिशयः दीपादेरिव, न पुरुषनियमेन व्यवतिष्ठते ॥

न च द्वित्वादिना साम्यं तस्मिन् नियमदर्शनात्।
प्रकाशे तु न दीपादौ सम्बन्धनियमः क्वचित् ॥49 ॥
यदपेक्षाधिया ज्ञातं द्वित्वं तस्यैव तद्ग्रहः।
संवेदनमपि प्राज्ञैः कस्यातिशय उच्यते ॥50 ॥
ज्ञातुश्चेदन्तराऽन्येन व्यापारेणास्य को गुणः।
ननु नैव क्रियाशून्यं कारकं फलसिद्धये ॥51 ॥
उक्तमत्र क्रिया ह्येषा यथादर्शनमिष्यताम्।
ज्ञानं संवेदनं चेति विद्मः पर्यायशब्दताम् ॥52 ॥
संवेदनं तु ज्ञानस्य फलत्वेन न मन्महे।
अर्थातिशयपक्षे च सर्वसर्वज्ञता पुनः ॥53.॥

यदि कहा जाये कि ऐसा नहीं होगा क्योंकि सर्वज्ञता की उत्पत्ति सम्बन्धियों की आकांक्षा से ही हो सकती है, केवल प्रकाशरूपता से नहीं — तो यह कथन भी निराधार है क्योंकि दीप आदि की भांति प्रकाशरूपता अर्थ की ही होती है, वह उसी की विशेषता है; केवल पुरुष के साथ सम्बन्ध होने पर ही प्रकाशरूपता नहीं होती।

और न ही इस स्थल पर द्वित्वादि-ग्रहण के साथ अर्थ की प्रकाशरूपता का साम्य कहना चाहिए क्योंकि उसमें एक विशेष नियम है ('ज्ञाता की अपेक्षा बुद्धि से जन्य होना'—जो यहां नहीं है) जबकि प्रकाश के सन्दर्भ में तो दीपादि पर वह नियम कहीं लागू नहीं होता।(49)

जो ज्ञाता की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है, उसी द्वित्व का ग्रहण होता है। और यदि अर्थ की प्रकाशरूपता के स्थान पर 'संवेदनरूपता' कहा जाये तो भी यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि बुद्धिमान् पूर्वपक्षी वहां किसका अतिशय मानेंगे?(50)

यदि संवेदन के आश्रय-रूप में ज्ञाता का अतिशय माना जाये तो प्रश्न उठता है कि ज्ञाता और संवेदन के बीच ज्ञान-व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है?(51)

यदि आप (पूर्वपक्षी) यह उत्तर देते हैं कि ज्ञाता कारक का संवेदन रूपी फल ज्ञान-व्यापार के बिना नहीं होता है तो आपके दर्शन (विचार) में भले ही आप ज्ञान को क्रिया कहें किन्तु हम (नैयायिक) तो संवेदन और ज्ञान को पर्यायवाची ही मानते हैं।(52)

इसलिए हम संवेदन को ज्ञान की क्रिया का फल नहीं मानते। और यदि अर्थ की प्रकाशरूपता होने से उसका अतिशय माना जाये तो फिर से सबकी सर्वज्ञता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।(53)

भट्टपक्षात् विशेषश्च न कश्चित् कथितो भवेत्।
नोभयातिशयोऽप्येषः दोषद्वितयसम्भवात् ॥54 ॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संवेदनं च तत् केन ग्राह्यं ज्ञानानुमापकम्।
अनवस्था भवेदस्य ज्ञाने संवेदनान्तरात्॥55॥
स्वसंवेद्या च संवित्तिः उपरिष्टान्निषेत्स्यते।
स्मृतिप्रमोषवादे च रजतस्मरणात्मिका॥56॥
कथं ते फलसंवित्तिः स्वप्रकाशा भविष्यति।
नाभाति स्मृतिरूपेण न चाप्यनुभवात्मना॥57॥
न तृतीयः प्रकारोऽस्ति तत् कथं सा प्रकाशताम्।
न च क्वचिदनाकारा संवित्तिरनुभूयते॥58॥
इयं संविदियं चार्थ इति नास्ति हि भेदधीः।
अर्थाकारानुरक्ता तु यदि संवित् प्रकाशते॥59॥

और वैसा मान लेने पर तो भाट्ट मीमांसकों द्वारा कही गई बात से कुछ नई बात नहीं होगी। अब यदि ज्ञाता तथा विषय दोनों को संवेदन का आश्रय माना जाये और किसी का अतिशय न माना जाये तो इसमें दो दोष होंगे।(54)

(क) यदि वह संवेदन ज्ञान का अनुमापक (ग्राहक) है तो उसका ग्रहण किसे होगा? (अगर आप कहें कि किसी को ग्रहण नहीं होगा तो लिङ्गज्ञान के अभाव से अनुमान की उत्पत्ति नहीं होगी)—यह प्रथम दोष होगा।

(ख) यदि कहा जाये कि उसका ग्रहण किसी दूसरे संवेदन से होता है तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि फिर उसके ग्रहण के लिए कोई और दूसरा संवेदन होना चाहिए—यह द्वितीय दोष होगा।(55)

जहां तक संवेदन को स्वसंवेद्य मानने का प्रश्न है, उसका निराकरण आगे किया जायेगा। उसमें आने वाली बाधाओं की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि 'स्मृति प्रमोषवाद' में रजत का स्मरण स्मृतिरूप में नहीं होता, अतः अख्याति होती है।(56)

ऐसी स्थिति में फल की संवित्ति स्वप्रकाश कैसे कही जायेगी क्योंकि वह न तो स्मृतिरूप है और न ही अनुभवरूप।(57)

इन दो के अतिरिक्त और कोई तीसरा प्रकार तो है ही नहीं, अतः इसका प्रकाश कैसे होगा? और (यह तो निश्चित है कि) कोई संवित्ति निराकार रूप में तो अनुभव की नहीं जाती।(58)

'यह संवित् है' और 'यह उसका विषय है' इस प्रकार की कोई भेदबुद्धि संवेदनकाल में नहीं होती क्योंकि यदि ऐसा माना जाये कि संवित् अर्थ से तदाकार रूप ही प्रकाशित होती है।(59)

बाह्यार्थनिह्नवस्तर्हि त्वया सौगतवत् कृतः।
स्वप्रकाशमते युक्तं न फलं संविदात्मकम्॥
तस्मात् फलानुमेयस्य व्यापारस्य न मानता॥60॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तव तो जानिये कि आपने भी बौद्धों के समान बाह्यार्थ का निषेध ही कर डाला। इस भांति पूर्वपक्षी प्रभाकर के स्वप्रकाश मत में फल की संविद्रूपता समीचीन नहीं है इसलिए उससे व्यापार की फलानुमेयता प्रमाणित नहीं होती।(60)

पाद टिप्पणियां

1. न्यायदर्शन के अनुसार प्रमा की कारण सामग्री में संनिहित कारक दो प्रकार के होते हैं—एक बोधस्वरूप या चित्स्वरूप और दूसरे अबोधस्वरूप या अचित् स्वरूप। उदाहरणार्थ 'यह कलम है' इस सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु, इन्द्रिय आदि अबोध स्वरूप कारक हैं जबकि प्रमाता, निर्विकल्पक इन्द्रियसंवेद्य आदि बोधस्वरूप कारक हैं।

2. ज्ञान का आलम्बन विषय होता है; ज्ञान का यथार्थत्व इस तथ्य में निहित है कि जैसा अर्थ (विषय) है, वैसी ही ज्ञान की विषयता होनी चाहिए अर्थात् जैसा विषय का स्वरूप तथा जैसे उसके धर्म हैं, उनका उसी रूप में ग्रहण अव्यभिचार कहा जाता है। न्यायदर्शन की पारिभाषिक पदावली में इसे 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः' कहते हैं।

3. ज्ञान के याथार्थ्य के विषय में सन्देह न रहने की दशा को 'असन्दिग्ध' कहते हैं। सन्देह न रहने से प्रामाण्य के विषय में निश्चयात्मकता रहती है।

4. 'लक्षण' का प्रयोजन व्यवच्छेद या व्यावर्तन करना होता है जबकि 'स्वरूप' का प्रयोजन उसके स्वभाव को व्यक्त करना होता है।

5. 'सन्निपत्य जनकता' का अर्थ है कि कारण सामग्री में समाविष्ट कारक परस्पर एक दूसरे के फलोत्पादक व्यापार में बाधक न होकर साधक होते हैं।

6. इसका अभिप्राय यह है कि सामग्री में सन्निहित कारक समवेत रूप से प्रमिति रूपी फल को उत्पन्न करते हैं किन्तु उस सामग्री में अन्तर्भूत होने पर भी उन कारकों का पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

7. उल्लेखनीय है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन कारण और कार्य में द्रव्य-भेद मानते हैं जबकि अन्य भारतीय दर्शन ऐसा नहीं मानते। कारण द्रव्य कार्यद्रव्य में समवेत होकर रहता है।

8. ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में भारतीय दर्शन में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं—
प्रथम मत के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, प्रमा रूपी ज्ञान को अपने प्रामाण्य के निर्धारण के लिए स्वेतर किसी कारक की आवश्यकता नहीं है। अतः प्रमाण एवं प्रमाण-फल में कोई भेद नहीं है। मुख्यतः बौद्ध एवं प्राभाकर मीमांसक इस मत के प्रतिपादक हैं।
द्वितीय मत के अनुसार ज्ञान की उत्पादक सामग्री और प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न होती है। प्रमाण के द्वारा ही प्रमारूप ज्ञान के प्रामाण्य की पुष्टि होती है। अतः प्रमा प्रमाणफल है, स्वयं प्रमाण नहीं—यही प्रमाण एवं प्रमाणफल में भेद है जो न्यायदर्शनाभिमत है।

9. ज्ञान के विषय में दार्शनिकों में यह विप्रतिपत्ति है कि ज्ञान साकार होता है या निराकार? इस विप्रतिपत्ति का कारण यह है कि ज्ञान अनेक प्रकार का होता है जैसे घट का ज्ञान, पट का ज्ञान आदि। अब प्रश्न यह है कि इन ज्ञानों में भेद कैसे होता है? क्या यह भेद वस्तुप्रदत्त है या स्वयं ज्ञान में भी विभेदक क्षमता है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस प्रश्न के उत्तर में निराकारज्ञानवादियों का मत है कि ज्ञान मूलतः निराकार होता है और ज्ञायमान वस्तुओं से आकार ग्रहण करता है। इसके विपरीत साकार ज्ञानवादियों की मान्यता है कि ज्ञेय वस्तु के आकार की भांति ज्ञान का भी अपना आकार होता है। वस्तु के आकार को विषयाकार या ग्राह्याकार कहते हैं और ज्ञान के अपने आकार को स्वाकार कहते हैं। द्विविध आकार के इस सिद्धान्त को उभयाकार कहते हैं।

उल्लेखनीय है कि वैभाषिक बौद्ध दार्शनिक निराकार ज्ञानवाद की स्थापना करते हैं जबकि सौत्रान्तिक बौद्ध दार्शनिक इसका खण्डन करते हुए साकार ज्ञानवाद को प्रस्तुत करते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक भी साकार ज्ञानवाद को स्वीकार करते हैं। नैयायिक दार्शनिक निराकार ज्ञानवाद के समर्थक हैं परन्तु क्षणभंगुरता की मान्यता के कारण बौद्धों का नैयायिकों से मतभेद है।

10. निराकार ज्ञानवादी वैभाषिक मत का खण्डन करते हुए जयन्त भट्ट यहां साकार ज्ञानवादी सौत्रान्तिक मत की युक्तियों का आश्रय ले रहे हैं।

11. वस्तु के ऊपर अपना प्रकाशन या ग्रहण का व्यापार कर ज्ञान उस वस्तु को अपना कर्म बनाता है। और फिर ज्ञान उस कर्म के सन्दर्भ में प्रमाण बनता है।

12. ज्ञान की प्रक्रिया के विश्लेषण में एक प्रश्न यह भी उठता है कि जब हमें ज्ञान प्राप्त होता है तो यह कैसे ज्ञात होता है कि हमें ज्ञान प्राप्त हुआ?

इस विषय में एक मत यह है कि ज्ञान स्वयंप्रकाश, स्वसंवेद्य होता है। अपने ज्ञेय विषय के साथ-साथ वह अपना प्रकाशन भी करता है। यह मत अद्वैत वेदान्त, मीमांसा और बौद्ध दर्शनसम्मत है।

दूसरा मत यह है कि ज्ञान हमेशा विषय का ही प्रकाशन करता है, स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसके प्रकाशन हेतु स्वभिन्न, अन्य ज्ञान की अपेक्षा होती है। यह मत न्यायदर्शन का है।

13. 'भवितुर्भावनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः' यह भावना का मीमांसा सम्मत लक्षण है। यहां 'करता है।' इस अभिव्यक्ति से पुरुष के एक व्यापार को अभिहित किया गया है। यही व्यापार इस वाक्य का अर्थ है। इसी को मीमांसक 'भावना' कहते हैं। इस मत का जयन्त निराकरण कर रहे हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक-समीक्षाएं

न्यायबिन्दु, लेखक धर्मकीर्ति, मू. सजिल्द 85/-, अजिल्द 55/- तथा **अपोहसिद्धि**, लेखक रत्नकीर्ति, मू. 35.00, अनुवाद एवं व्याख्या, प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे, प्रकाशक—केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, वाराणसी।

ये दोनों पुस्तकें प्रथमतः मेरे द्वारा **तत्त्वचिन्तन** पत्रिका में 1969-70 में प्रकाशित की गई थीं और अनन्तर मैंने ही इनका 1971 में पुस्तक-रूप में प्रकाशन दर्शन प्रतिष्ठान, जोधपुर से किया। अब ये पुस्तकें बहुत समय से अनुपलब्ध थीं। ये पुस्तकें बौद्ध दार्शनिक साहित्य में आधारभूत महत्त्व की हैं। संस्कृत से हिन्दी में इनका अनुवाद और इनकी व्याख्या करने वाले पांडेजी से अधिक इसके योग्य दूसरा कोई व्यक्ति बहुत प्रयत्न करके भी सोचा नहीं जा सकता। तिब्बती संस्थान ने इनका पुनः प्रकाशन कर बौद्ध दर्शन के हिन्दी-पाठकों पर बहुत बड़ा उपकार किया है।

फिलोसोफीकल इन्वेस्टीगेशंस्, लेखक, विट्गेंस्टाइन, अनुवादक– अशोक वोरा, मूल्य 300/-, प्रकाशक– भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली।

विट्गेंस्टाइन की यह पुस्तक आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में युगान्तकारी और युगान्तर प्रवर्त्तक मानी जाती है और हमारे विश्वविद्यालय-क्षेत्रों का दर्शन उस दर्शन की छाया होने से उसमें इसका अद्वितीय महत्त्व स्वाभाविक है। वैसे यूरोप में तो लगभग 30 वर्ष पहले ही आधुनिक युग समाप्त होकर उत्तर आधुनिक युग आरंभ हो गया था और अब इधर वह भी समाप्त होकर उत्तर-उत्तर आधुनिक युग का मध्याह्न पहुँच चुका है और तदनुसार हमारे साहित्यिक क्षेत्रों में इन्हीं दो युगों के विचारकों की अनभिज्ञ चर्चा है (ये लोग डेरिडा से पहले के किसी लेखक का नाम लेने को पुरानपंथ मानते है) किन्तु दर्शन-क्षेत्रों में अभी आधुनिक युग ही चल रहा है, जिसके प्रमाणस्वरूप भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् से ही प्रकाशित और भारतीय 'दार्शनिकों' द्वारा लिखित और संपादित पुस्तक **दि फिलोसोफी ऑफ पी. एफ. स्ट्रासन**, तथा इसी संस्था द्वारा कुछ 'सम्माननीय भारतीय दार्शनिकों' के सम्मान में प्रकाशित ग्रंथ और **जे आई सी पी आर** में प्रकाशित 'मौलिक' लेख प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस कारण **फिलोसोफीकल इन्वेस्टीगेशंस्** पुस्तक हमारे विश्वविद्यालयीय छात्रों के लिए सामयिक महत्त्व की है, स्वयं से यह पुस्तक एक असंदिग्ध प्रतिभावान् दार्शनिक की एक अन्तर्दृष्टिपूर्ण कृति होने से सबके लिए पठनीय तो है ही।

इस पुस्तक का डॉ. वोरा द्वारा किया गया यह अनुवाद आश्चर्यजनक रूप से बहुत अच्छा और बहुत सरल-सुबोध है। इसके लिए डॉ. वोरा हिन्दी पाठकों के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मतत्त्वविवेक, लेखक उदयनाचार्य, प्रकाशक — उच्चतर अध्ययन संस्थान, शिमला, 1995, मूल्य 500/- तथा **न्यायकुसुमांजलि**, (प्रथम भाग) लेखक उदयनाचार्य, प्रकाशक भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली। अंग्रेज़ी में अनुवाद एवं व्याख्याकार, नारायण शास्त्री द्राविड़, 1996, मूल्य रु. 550/-

न्यायदर्शन-संप्रदाय के प्राचीन आचार्यों में उदयनाचार्य का बहुत प्रमुख स्थान है। इस प्रकार ये दोनों कृतियां बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्रथम कृति बौद्ध दर्शन के खंडनपरक है और दूसरी न्याय-सिद्धान्त की प्रतिपादक।

प्रोफेसर द्राविड़ के पांडित्य से सभी परिचित हैं, इस कारण इन ग्रंथों के अनुवाद और व्याख्या की प्रामाणिकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, यद्यपि अंग्रेज़ी कुछ और परिष्कृत हो सकती थी, इस अपेक्षा के लिए कुछ अवकाश रहता है। किन्तु इसका एक बड़ा कारण संस्कृत भाषा की सामान्य रूप से और भारतीय दार्शनिक पदावली की विशेष रूप से अंग्रेज़ी में अनुवाद की दुष्करता भी है। एक दूसरा बड़ा कारण यह भी है कि भारतीय अनुवादक जबकि संस्कृत पदों की अवधारणाओं के आग्रह से अंग्रेज़ी पदों का चयन और वाक्यों की रचना करते हैं, अंग्रेज़ अनुवादक अंग्रेज़ी अवधारणाओं के आग्रह से अनुवाद करेगा और परिणामतः उसकी भाषा अधिक सहज होगी। अब यहां मैं एक दूसरा .आधारभूत प्रश्न उठाना चाहता हूँ : हम भारतीय लोग अंग्रेज़ी में अनुवाद करें ही क्यों? वैसे तो यह प्रश्न एक सीमा तक लिखने के सम्बन्ध में भी सही है कि हम अपने पड़ोस के लोगों को छोड़कर उन्हें अपनी बात सुनाने को क्यों उत्सुक हों जो सात समुंदर पार ही नहीं हैं हमें बात करने योग्य भी नहीं समझते, किन्तु संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद की तो कोई भी तुक नहीं है। हमारे प्राचीनों को वे स्वयं भी पढ़ना चाहते हैं और उसके लिए वे लोग स्वयं ही संस्कृत भी सीखते हैं और अनुवाद भी करते हैं, किन्तु आज के हम लोगों को वे पठनीय नहीं समझते और तब हमारा अंग्रेज़ी में लिखा भी नहीं पढ़ते। हिन्दी या और किसी भारतीय भाषा में लिखे को तो हम ही पठनीय नहीं समझते, वे तो फिर कैसे समझेंगे?

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दर्शन-प्रतिष्ठान के दो अन्य प्रकाशन

चिद् विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

1994 मूल्य : 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

यशदेव शल्य

शंकर पुरस्कार से सम्मानित

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोक-साधन।

1994 मूल्य 200.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुरोवाक्

प्रयोगधर्मी साहित्य व चिंतन की पत्रिका

(सर्जना-लोक का तितीर्षु)

संपादक : पीयूष दईया

विश्राम कुटी, सहेली मार्ग, उदयपुर (राज.) 313001 (दूरभाष 523316)

आवरण — रामकुमार, भीतर के चित्र अखिलेश, सज्जा : मानवेन्द्र कुमार

साक्षात्कार : निर्मल वर्मा से कुलदीप सिंह, उपन्यासांश : कृष्ण बलदेव वैद

कविताएं : प्रभात त्रिपाठी, विनोद कुमार शुक्ल, अब्दुल बिस्मिल्लाह, गगन गिल, ज्योत्सना मिलन, तेजी ग्रोवर, उदयन वाजपेयी, चंपा वैद, रुस्तम, वीरेन्द्र दुबे।

गद्य : अशोक वाजपेयी, संपूर्ण नाटक : भानु भारती, कहानियां : जितेन्द्र कुमार, जयशंकर, विष्णु नागर

निबन्ध : श्रीराम वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, उदयन वाजपेयी डायरी निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह

समीक्षात्मक लेख : ज्योतिष जोशी, मालचंद तिवाड़ी, अनिरुद्ध सिंह उमर

तीसरा अंक : 'मृत्यु' पर केन्द्रित।

प्रवेशांक 50 रुपये : पृ. सं. 208

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान का तृतीय प्रकाशन

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

इस पुस्तक में भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिक परंपराओं के कुछ युग-प्रवर्तक विचारकों और कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-धाराओं का विवेचन किया गया है। ऐसे विवेचन प्रायः विवरणात्मक ही हुआ करते हैं और परिणामतः ऐसी पुस्तकें इतिहासपरक होती हैं। किन्तु इस पुस्तक के लेख इसके अपवाद हैं। ये लेख एक चिन्तक द्वारा अन्य चिन्तकों को समझने, उनकी थाह पाने के प्रयत्न के फल हैं। पुस्तक के अन्तिम लेख 'समकालीन अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण' में एक ऐसे दर्शन-सम्प्रदाय के दिग्भ्रमों का साधिकार विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिसे हमारे विश्वविद्यालयीय क्षेत्रों में आप्त वचन के समान देखा जाता है।

लेख सूंची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

जनवरी, 1997 मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection